द्वैमासिक पत्रिका

हिन्दी बुनियाद

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

ISSN-Application No. 2018240134, dated 11th July, 2018

हिन्दी बुनियाद

अंक-तृतीय,

फरवरी से मई 2019

उच्च शिक्षा का रचनात्मक प्रतिबिम्ब

प्रधान सम्पादक :
डॉ. बजरंग लाल सैनी

सम्पादक :
रामानंद राठी

सह-सम्पादक :
डॉ. पूनम गुप्ता

मुद्रण एवं प्रचार-प्रसार :
सुनील दत्त माथुर

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
प्लॉट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र
आर.टी.ओ. के सामने, जयपुर-302004
फोन नं.: 0141-2711129 • फैक्स नं.: 0141-2710341
ई-मेल : hindibuniyaad@gmail.com • वेबसाइट : www.rajhga.com

पत्रिका प्राप्ति स्थल :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
प्लॉट नं. 1, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र
आर.टी.ओ. के सामने, जयपुर-302004

मुद्रक :
शीतल ऑफसेट, जयपुर

• प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु
प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
• प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से
प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।

द्वैमासिक पत्रिका

हिन्दी बुनियाद

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रधान सम्पादक की कलम से

सम्पादकीय

आलेख

- कृत्तिवास रामायण : बंग-भाषा में श्रीराम की जीवनचरित्र 5
- इस संसार में हम अकेले नहीं हैं 12
- धर्म की शाश्वत संकल्पना 16
- अमृतसर मृतसर कर डाला 19
- हेमिंग्वे का घर 23
- गाँव और शहर 30
- हिन्दी सिनेमा में गुम होता गाँव 35
- प्राकृतिक असंतुलन का बेकाबू होता विकट दानव 39
- उपभोक्तावादी संस्कृति का अभिशाप 45
- शिक्षा और संस्कृति के अन्तर्सम्बंध 48
- हिन्दी कहानी में अहिंसा बोध 55
- एक पालतू श्वान की परिचर्या का अद्‌भुत रोजनामचा 59
- अभावों के बीच खिलता जंगली फूल 61
- चौपाल 63
- खबरों में अकादमी 64

◆◆◆

हिन्दी बुनियाद
द्वैमासिक पत्रिका
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रधान सम्पादक की कलम से...

प्रधान सम्पादक
डॉ. बी.एल. सैनी

◆◆◆

सम्पादकीय

सम्पादक
रामानंद राठी

◆◆◆

कृत्तिवास रामायण

बंग-भाषा में श्रीराम का जीवनचरित

- डॉ. नरेन्द्र कुमार मेहता

कृत्तिवास ओझा (1381-1461) का जन्म वर्तमान पश्चिम बंगाल के नदिया जिला स्थित फुलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम बनमाली ओझा एवं दादा का नाम मुरारी ओझा था।

' कृत्तिवास' भगवान शिव का ही एक विशेषण है। कहा जाता है कि जब बालक कृत्तिवास का जन्म हुआ तो उसके दादा मुरारी ओझा चंदनेश्वर (उड़ीसा) स्थित प्रसिद्ध शिव मन्दिर की यात्रा पर निकलने ही वाले थे। इस स्मृति को चिरस्थायी बनाने हेतु बालक का नाम कृत्तिवास रख दिया गया। भारतीय भाषा संस्थान (उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन मंत्रालय) ने महाकवि कृत्तिवास के जीवन एवं कृतित्व पर सन् 2009 में एक वृत्तचित्र का निर्माण करवाया था।

कवि देवदीप मुखर्जी अनेक बार महाकवि कृत्तिवास के गाँव हो आए हैं। जब इन्हें 'हिन्दी बुनियाद' के इस आयोजन की सूचना दी गई तो इन्होंने आगे होकर कृत्तिवास के गाँव से संबंधित यथातथ्य जानकारी भिजवाई। देवदीप लिखते हैं - ''कहा जाता है कि गौड़ दरबार में कृत्तिवास ओझा के कुछ श्लोक सुनकर गौड़ महाराजा प्रसन्न होते हैं और उनसे रामायण की कथा लिपिबद्ध करने का आग्रह करते हैं... उनकी स्मृति में जड़ित वह वृक्ष भी इस गाँव में भली-भाँति सुरक्षित है जिसके नीचे बैठकर वे लिखते थे...उनकी याद में एक संग्रहालय और एक पुस्तकालय भी यहां स्थापित है, और वह समाधि भी जहाँ वे अंतिम शयन में लीन हुए....।''

पश्चिम बंगाल के ग्राम फुलिया (जिला-नदिया) स्थित संत कृत्तिवास की स्मृतियों से जुड़े छाया चित्र हमें श्री कौशिक घोष ने उपलब्ध करवाए हैं। 'हिन्दी बुनियाद' की ओर से उनका आभार। पेशे से इंजीनियर श्री कौशिक घोष देश के जाने-माने छायाकार हैं और धार्मिक पर्यटन से संबंधित फोटोग्राफी में उन्हें महारथ हासिल है।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः
सरितश्च महीतले।।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।
— वा.रा.बा. २—३६—३७

इस पृथ्वी पर जब तक नदियों व पर्वतों की सत्ता रहेगी, तब तक संसार में रामायण कथा का प्रचार होता रहेगा।

■■■

कृत्तिवास रामायण बंग भाषा—भाषियों की रग—रग में कूट—कूट कर भरी है। चाहे धनी—निर्धन, पंडित—अल्पज्ञानी, शिक्षित—अशिक्षित कोई हो, प्रत्येक सम्प्रदाय, समाज और वर्ग के लिये समान रूप से यह रामायण आनंदकारी, कल्याणकारी एवं सर्वहिताय है। यदि संस्कृत में महाकवि कालिदास और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदासजी हैं तो बंगला भाषा में

महाकवि कृत्तिवास और उनकी रचना, ''कृत्तिवास रामायण'' सर्वतोगामिनी, सर्वतोव्यापिनी और सर्वकालानुयायिनी–कालजयी है। अतुलनीय पांडित्य एवं भाव सरलता इस रचना की प्रमुख विशेषताएँ हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी से एक शती पूर्व बंगला–रामायण के रचयिता संत कृत्तिवास ने अपनी अमर रचना को जन–जन तक पहुँचाने का काम किया है। कृत्तिवास रामायण का कथानक प्रायः वाल्मीकि रामायण के अनुसार है किन्तु अनेक स्थानों–प्रसंगों पर अन्य पौराणिक अंशों का पर्याप्त समावेश किया गया है। गोस्वामी तुलसीदासजी की तुलना में आख्यानों की अत्यधिक प्रचुरता कृत्तिवास रामायण की अपनी एक अलग, अनोखी पहचान और विशेषता है। बंगला भाषा मधुर–सरल–सरस है अतः इसका आरम्भिक ज्ञान प्राप्त कर उसके समृद्ध साहित्य का रसास्वादन पाठकों को अवश्य यहाँ प्राप्त होगा।

यहाँ हम रामायण (श्रीराम कथा) के एक वीर–भक्त तरणीसेन का प्रसंग दे रहे हैं। तरणीसेन जिसका कृत्तिवास रामायण में अपना एक विशेष महत्व है। तरणीसेन कौन था? वह किसका पुत्र था? वह श्रीराम का भक्त था, फिर श्रीराम से क्यों उसने युद्ध किया? विभीषण एवं सरमा से उसका क्या सम्बन्ध था?

तरणीसेन की मृत्यु श्रीराम के हाथों होने पर श्रीराम एवं विभीषण को दुःख क्यों हुआ, आदि घटनाओं का वर्णन इस कथा में है। यह कथा–प्रसंग अन्य श्रीरामकथाओं में लगभग नगण्य होने से इस रामायण में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। भारतीय साहित्य में रामायण ही एक ऐसी जनप्रिय रचना है जो भारत की प्रत्येक भाषा में किसी न किसी रूप में उपलब्ध होकर कालजयी ग्रन्थ के रूप में स्थापित हो चुकी है।

मकराक्ष अपने पिता खर का दंडकवन में श्रीराम द्वारा वध का प्रतिशोध लेकर उनके समक्ष युद्ध हेतु आ गया। उसने युद्ध के मैदान में नल, नील, सुषेण, सुग्रीव, अंगद और हनुमान को भयभीत कर रणभूमि त्याग कर भागने पर विवश कर दिया। उस समय श्रीराम ने उससे कहा–

फुलिया के कृत्तिवास संग्रहालय एवं पुस्तकालय भवन में लगा संत कृत्तिवास का आदमकद व्यक्तिचित्र।

राम बले, मकराक्ष ना कर बिलाप,
आजि धुचाइव तव मनेर सन्ताप
एखनि पाठाब तोरे यमेरसदन,
चिर दिन पिता–पुत्रे हबे दर्शन

– कृत्तिवास रामायण, लंका काण्ड–५५

मकराक्ष खेद न करो। आज तुम्हारे मन का सारा सन्ताप दूर कर दूँगा। अभी तुमको यम–सदन भेज दूँगा, वहाँ तुम पिता–पुत्र दोनों में

माना जाता है कि इसी वटवृक्ष के नीचे बैठकर महाकवि कृत्तिवास ने बंगाली रामायण अथवा 'श्रीराम पांचाली' का लेखन मनन किया था।

भेंट होगी। इतना कह कर श्रीराम ने खुरपार्श्व नामक बाण फेंका। श्रीराम को मकराक्ष इसके पिता खर से भी बड़ा शूरवीर दिखा। अंत में उन्होंने ऐषिक बाण फेंक कर उसे मारना चाहा, किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ। अंत में उसे अग्निबाण से मार गिराया।

मकराक्ष के युद्ध में मारे जाने की सूचना लंकापति रावण को एक दूत ने दी। रावण यह सुनकर सिंहासन से गिरकर मूर्च्छित हो गया। उसे लगा कि कुम्भकर्ण, अतिकाय और वीर अकम्पन के वध से स्वर्ण लंकापुरी धीरे–धीरे वीरों से शून्य हो रही है। रावण ने सोचा कि अब किसे रणक्षेत्र में भेजूँ ताकि वह श्रीराम–लक्ष्मण और सुग्रीव सहित वानर सेना का वध करके युद्ध में संभावित इस पराजय को विजय में परिवर्तित कर दे। रावण के आदेश देने पर उनके समक्ष तरणीसेन आया तथा उसने उन्हें भूमि पर झुक कर प्रणाम किया। दशानन ने उसे अपनी बाहों में बाँध कर उसका सम्मान किया तथा पुष्प–पान देकर युद्ध में जाने से पूर्व उसकी आरती उतारी। रावण ने कहा–

रावण बले, लंकापुरी राखह तरणी,
एत्तेक प्रमाद हबे, आगे नाहि जानि
तव पिता विभीषण धर्म्मेतेतत्पर,
हित उपदेश भाइ बुझाले विस्तर
अंहकारे मत्त आमि, छिन्न हैलमति,
बिना–अपराधे तारे मारिलाम लाथि
आमारे छाड़िया गेल भाई विभीषण,
अनुरागे लइयाछे रामेर शरण

–कृत्तिवास रामायण, लंका काण्ड –५८

तरणी! अब लंकापुरी की रक्षा करो। इतना बड़ा संकट लंका पर आ जायेगा यह मुझे पहले नहीं मालूम था। तुम्हारे पिता विभीषण धर्म के पालनकर्ता हैं। उन्होंने मुझे भी ढेर सारे हित उपदेश देकर समझाया लेकिन मैं तो अहंकार में अंधा था, मेरी मति भ्रष्ट हो चुकी थी, मैंने बिना अपराध के उन्हें लात मार दी। भाई विभीषण मुझे त्याग कर राम की शरण में चले गये। अब तुम्हारे पिता शत्रु पक्ष में जाकर राम को मंत्रणा देकर कनक लंका का विनाश करा रहे हैं। तुम उनके पुत्र हो लेकिन तुम पिता जैसे नहीं हो, मैं सदा से तुमको जानता हूँ।

तरणीसेन ने तब हाथ जोड़कर कहा – ''हे राक्षसों के नाथ, आप त्रैलोक्यविजयी हो। सभी शास्त्रों में कहा गया है कि माता–पिता महागुरु हैं, इसलिए पिता के सम्बन्ध में कुछ भी कहना उचित नहीं होगा।'' रावण ने तरणीसेन से कहा तुम श्रीराम–लक्ष्मण को हाथ–पैरों से बाँधकर यहाँ ले आओ। यह सुनकर तरणीसेन ने रावण से कहा– ''मैं संग्राम में अपनी संपूर्ण शक्ति से भंयकर मारकाट मचाऊँगा। वंश के इस नाश में मूल आधार (कारण) मेरे पिता विभीषणजी हैं। इस समय मैं उनसे कोई अनुरोध नहीं करूँगा। विभिन्न पुराणों और शास्त्रों में यह कहा गया है कि युद्ध के समय श्रेष्ठ और ज्येष्ठ की विवेचना नहीं करनी चाहिए।''

सेना को युद्ध के लिये सुसज्जित होने के आदेश देकर तरणीसेन अपनी माता 'सरमा' के

पास गया। तरणी ने कहा कि माता मैं पूर्णब्रह्म नारायण को आज अपनी आँखों से देखूँगा। श्रीराम के दर्शन से मेरा शरीर पवित्र हो जावेगा। मैं अपने पिता के चरण–कमल भी देख सकूँगा। हे माता! मुझे रणक्षेत्र में जाने की अनुमति दो। यह सब सुनकर सरमा चौंक कर रो पड़ी। सरमा ने तरणी से कहा कि तुम रणक्षेत्र में नहीं जाओगे। मैं तुम्हें लंका छोड़कर कहीं और लेकर चली जाऊँगी। सरमा ने कहा कि पुत्र तरणीसेन तुम्हारे पिता धार्मिक हैं, पाप संगति को त्यागकर उन्होंने श्रीराम की शरण ली है। तुम भी जाओ और श्रीराम की शरण लेकर उनकी स्तुति करो। श्रीराम मनुष्य नहीं हैं, वे गोलोक के स्वामी हैं। दुष्ट राक्षसवंश का ध्वंस करने के लिये स्वयं विष्णु भगवान ने राजा दशरथ के पुत्र के रूप में रामावतार लिया है। जिस शत्रु के एक लाख पुत्र हों और सवा लाख पोते हों, तो भी श्रीराम से युद्ध के बाद उनके वंश में एक भी दीपक जलाने को नहीं बचेगा। तरणी ने माँ की बातें सुनकर कहा कि मुझे यह सब ज्ञात है फिर भी मैं युद्ध करूँगा, क्योंकि श्रीराम के हाथों से मरने पर मुझे स्वर्ग प्राप्त होगा। यदि दास का पुत्र समझकर श्रीराम मेरा वध न करें तो हे माता, मैं फिर तुम्हारे चरणों में आकर प्रणाम करूँगा।

सरमा यह सब सुनकर रो पड़ी। तरणीसेन जननी सरमा के चरणों को नमन कर युद्ध के लिये चल पड़ा।

राक्षसों और वानरों में महारण हुआ। वानर प्रहार को सहने में असमर्थ हो भाग खड़े हुए। श्रीराम ने कहा–मित्र विभीषण! तनिक देखना तो कौन युद्ध करने आ गया? विभीषण ने कहा, ''हे राजीवलोचन, यह तो रावण के अन्न से पला कोई वीर है। रिश्ते में यह उसका भतीजा लगता है और उसी के गोत्र का है। यह बड़ा धार्मिक विचारधारा वाला तथा महाबली योद्धा भी है।''

उधर तरणी के नेत्र श्रीराम एवं अपने पिता विभीषण के दर्शन के लिये आतुर हो रहे थे। तरणी ने अपना रथ श्रीराम की ओर मोड़ा तो मार्ग में नील ने कहा– तू कहाँ जा रहा है? मैं तेरा सिर एक ही

कृत्तिवास स्मृति विद्यालय के प्रांगण में स्थित संत कृत्तिवास का भव्य स्मारक।

चोट में तोड़ दूँगा। तरणी ने हाथ जोड़कर कहा – रास्ता छोड़ दो ताकि मैं श्रीराम–लक्ष्मण को देखूँ। तरणी के शरीर के सारे अंगों पर तथा रथ के चारों ओर राम नाम लिखा हुआ था। तरणी की यह भक्ति देखकर वानर हँसने लगे। उन्होंने उसे बगुला भगत कहा। उन्हें तरणी मायावी लगा।

अंततः नील और तरणी में युद्ध हुआ। नील पराजित होकर गिर पड़ा तथा उसके मुँह से रक्त की धारा बह निकली। इसके बाद तरणी तथा हनुमान में युद्ध हुआ। तरणीसेन ने हनुमान को पकड़कर जमीन पर पटक दिया। हनुमानजी को पीछे कर बालि का पुत्र अंगद तरणी से जा भिड़ा। तरनीसेन को अंगद पर गुस्सा आ गया और उसने अंगद के सीने पर लोहे का मुगद्र दे मारा। युद्ध में बड़े–बड़े वानरों को तरणीसेन ने घायल कर दिया। महेन्द्र, देवेन्द्र और बूढ़ा सुषेण तक तरणीसेन के बाणों का कोई भी सामना नहीं कर सके। सुग्रीव के सीने पर तरणीसेन ने घनघोर जाठा फेंककर मारा– राजा सुग्रीव भूमि पर गिर पड़े और उनके मुख से रक्त की धारा बह निकली। तरणीसेन के बाणों के सामने कोई भी स्थिर नहीं

संत कृत्तिवास

रह सका। महेन्द्र, देवेन्द्र द्विविद और कुमुद भागने को विवश हो गये। हनुमानजी, सुषेण और अंगद ही वहाँ डटे रह गये। यह तीनों मिलकर सुग्रीव की मूर्च्छा दूर करने का प्रयत्न करने लगे।

अंततः श्रीराम के सामने तरणी का रथ जा पहुँचा। उसने देखा कि उसके सामने श्रीराम–लक्ष्मण हाथ में धनुष लिये खड़े हैं तो दक्षिण में जाम्बवान और बाएँ विभीषण हैं। तरणीसेन रथ से उतर पड़ा और पिता (विभीषण) के चरणों पर संकेत से प्रणाम कर फिर हाथ जोड़कर श्रीराम–लक्ष्मण को प्रणाम किया। विभीषण ने कहा, हे राम! शीघ्र ही सामने देखिए! तुम दोनों को निशाचर (तरणीसेन) प्रणाम कर रहा है। श्रीराम ने कहा–मित्र विभीषण यह निशाचर होकर भी तथा विपक्ष का योद्धा होकर भी हम दोनों को क्यों प्रणाम कर रहा है? विभीषण ने कहा, प्रभु लंका में यह आपका भक्त है तथा आपके चरणों के अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं जानता है। यह लंका के राजा रावण के आदेश से यहाँ आया है। श्रीराम ने कहा कि वास्तव में यह मेरा भक्त है तो आशीर्वाद देता हूँ कि इसकी मनोकामना पूर्ण हो। लक्ष्मण ने श्रीराम से कहा कि हाय–हाय यह आपने क्या किया? राक्षस की मनोकामना–अभिलाषा है श्रीराम की पराजय और रावण की विजय। श्रीराम ने कहा–

श्रीराम बलेन, तूमि ना जान लक्ष्मण,
भक्तेर विषय–वाच्छा नहे कदाचन
– कृत्तिवास रामायण, लंका कांड–२७२

तुम नहीं जानते लक्ष्मण, भक्त कभी भौतिक इच्छाएँ नहीं करता। तरणीसेन ने सिंहनाद कर उन्हें अपने देश सकुशल लौट जाने को कहा। यह सुनकर लक्ष्मणजी को क्रोध हो आया और उन्होंने तरणीसेन पर पाँच सौ बाँण फेंके जिनको तरणीसेन ने काट कर खंड–खंड कर दिया। रहस्य की बात यह थी कि जितने बाण लक्ष्मण तरणीसेन पर निशाना साधकर फेंकते, तरणीसेन श्रीराम का मन में स्मरण कर इन्हें काटकर गिरा देता था। अन्त में लक्ष्मणजी ने गन्धर्व बाण फेंका, जिससे तीन करोड़ गन्धर्वों का जन्म हो गया और गन्धर्वों तथा राक्षसों में भयंकर युद्ध छिड़ गया। तरणीसेन की सेना में एक भी सैनिक शेष नहीं रहा। यह देख तरणीसेन ने क्रोधित होकर हाथ में जाठा उठाकर लक्ष्मणजी के सिर पर दे मारा। लक्ष्मणजी को मूर्छा आ गयी तथा गिर पड़े। हनुमानजी उन्हें बिना विलम्ब किये उठाकर ले गये।

लक्ष्मणजी को गिराकर तरणीसेन ने पुकारा–कहाँ है वह कपटी तपस्वी जटाधारी राम? राम मैं तुम्हें अभी जल्द ही यम के घर भेज रहा हूँ। यह सुनकर श्रीराम तरणीसेन के सम्मुख आकर खड़े हो गये। वीर तरणी ने श्रीराम का विश्वरूप देखा। उनके एक–एक रोम कूप में ब्रह्माण्ड समाया हुआ था। तरणी ने मृत्युलोक, तपोलोक ओर ब्रह्मलोक देखे। उसने देखा कि माया के प्रभाव से गोलोक के स्वामी मनुष्य रूप धरकर लीला कर रहे हैं। उनके चरणों में भागीरथी प्रवाहमान हैं।

तरणी ने भूमि पर साष्टांग लोटकर श्रीराम को प्रणाम किया। धनुष बाण उठाकर एक तरफ

फेंककर वह श्रीराम की स्तुति करने लगा। हे पुडंरीकाक्ष, हे राक्षसों के रिपु, मैं स्तुति करने में असमर्थ हूँ। मैंने राक्षसों का शरीर पाया है। युग–युगान्तरों से मुक्ति को असाध्य मानने के उपरान्त अब मैंने तुम्हारा वध्य बनकर राक्षस वंश में जन्म लिया है। अब झूठा गर्व करने से क्या लाभ, मुझको स्वर्ग नहीं चाहिए, तेज खड्ग से मेरा मुंड काट डालो, ताकि मैं मोक्षधाम को चला जाऊँ। यदि आप अपने कर–कमलों से मेरा मस्तक काट डालेंगे तो मैं प्रसन्नतापूर्वक गोलोक चला जाऊँगा। इस बात में कोई संदेह नहीं है।

तरणी की इस प्रकार की स्तुति सुनकर श्रीराम का कोमल शरीर आँसुओं से भीग गया। श्रीराम ने कहा– ''हे मित्र विभीषण सुनो, अब मुझे ज्ञात हुआ कि लंका में मेरा ऐसा भी एक भक्त है। उन्होंने अपने हाथ के धनुष–बाण रख दिये। श्रीराम ने विभीषण से कहा कि मैं अपने भक्त को कैसे मार सकता हूँ। आज मुझे सेतु बाँधना व्यर्थ लग रहा है। मैं लंका का युद्ध त्यागकर वन में लौट जाऊँगा। मैंने समझ लिया है कि अब न सीता का उद्धार होगा और न ही मैं अपने राज्य में जाऊँगा। मेरे भक्त के अंग में काँटा भी चुभ जाये तो मेरे हृदय में शैल की सी चोट लगती है।'' ...यह कहकर श्रीराम युद्ध से हाथ खींचकर अलग बैठ गये।

तरणी ने अपने मन ही मन विचार किया कि श्रीराम मेरी स्तुति से प्रसन्न होकर मुझ पर अस्त्र नहीं चला रहे हैं। इस राक्षस–देह से कैसे मुक्ति मिलेगी तथा युद्ध के बिना मुक्ति का कोई उपाय नहीं। तब तरणीसेन ने धनुष–बाण उठाकर श्रीराम को कठोर वाक्य कहना शुरू कर दिया। हे राम, तेरी जो वीरता है उसके बारे में चराचर में विदित है। भरत ने तुझे भगाकर राज्य छीन लिया। तुमको मारने के बाद मैं युद्ध में लक्ष्मण का भी वध करूँगा और सीता को लेकर रावण के बायें बिठाऊँगा।

इतना सुनकर लक्ष्मण ने सौ बाण धनुष पर चढ़ाये। यह देखकर तरणीसेन ने मन ही मन सोचा कि मुझे तो राम के हाथों मरने की अभिलाषा है। विभीषण ने दुःखी तरणी की अभिलाषा भाँप ली। विभीषण ने श्रीराम से हाथ जोड़कर कहा, लंका में यह बालक दुर्जेय वीर है। अतः अब पुनः लक्ष्मणजी को भी इससे युद्ध न करने दें तथा अब आप ही इस निशाचर को मारें। श्रीराम और तरणी के मध्य निर्णायक युद्ध हुआ। अंत में तरणीसेन ने देखा कि श्रीराम अत्यन्त परिश्रम से थक से गये हैं। तब उसने मन में निर्णय किया कि राज्य–धन–सम्पत्ति मुझे कुछ भी नहीं चाहिए। मैं केवल श्रीराम के हाथों मरकर गोलोकधाम जाना चाहता हूँ।

तरणीसेन जब मन ही मन यह सब सोच रहा था तो विभीषण ने श्रीराम के कानों में कहा–

शुन प्रभु रघुनाथ, करि निवेदन, ब्रह्म–अस्त्रे
हइबेक इहार मरण
अन्य–अस्त्रे ना मारिबे एइ निशाचर, सदय
हइया ब्रह्मा दियाछेन वर
एतेक शुनिया राम कमल लोचन, घनुकेते
ब्रह्म–अस्त्र जुड़िला तखन
रविर किरण जिनि खरतर बाण, सेइ बाणें
रघुनाथ पूरिला सन्धान

– कृत्तिवास रामायण, लंका काण्ड–२८०

प्रभु रघुनाथ सुनो! मेरा यह निवेदन है कि इसकी मृत्यु केवल ब्रह्मास्त्र से होगी। अन्य किसी अस्त्र से इस निशाचर की मृत्यु नहीं होगी, ऐसा ब्रह्मा ने इसे वरदान दिया हुआ है। यह सुनकर श्रीराम ने रवि के किरण सा प्रखर ब्रह्मास्त्र (बाण)

धनुष पर चढ़ाया। उधर तरणीसेन हाथ जोड़कर श्रीराम से कहने लगा, तुम्हारे चरणों को निहार कर मैं अपने प्राण त्यागता हूँ। हे नाथ! हे प्रभु!! परलोक में भी आप मुझे अपने श्री चरणों में स्थान देना। तरणी को बाण लगा और उसका मुंड कटकर अलग जा गिरा। दो–खंड होकर वह वीर धरा पर गिर पड़ा। तरणीसेन का कटा मुण्ड राम–राम उच्चारने लगा। उधर हाय–हाय करता विभीषण आँसुओं से भीगकर जमीन पर गिर पड़ा। श्रीराम ने कहा–मित्र, विभीषण तुम क्यों रो रहे हो तथा उन्हें अपनी गोद में बिठा लिया। विभीषण ने कहा प्रभु, यह मेरा पुत्र तरणीसेन मरा है। यह सुनकर श्रीराम भी रोने लगे तथा उन्होंने विभीषण से कहा कि यदि तुम मुझे पहले ही बता देते कि यह तुम्हारा पुत्र है तो मैं तरणी के साथ कभी युद्ध ही नहीं करता। श्रीराम तथा विभीषण को रोते देख लक्ष्मण, समस्त वानर, सुग्रीव, अंगद, हनुमानजी, सुषेण और जाम्बवान भी रोने लग गये। श्रीराम ने कहा–मित्र विभीषण पता नहीं तुम्हारा हृदय कितना कठोर पत्थर है, तुम्हीं ने मुझे ब्रह्मास्त्र से इसे मारने की मंत्रणा दी। तुमने स्वयं अपने पुत्र का वध कराया। पहले विचार नहीं किया, अब किस कारण रो रहे हो? हे मित्र! शोक मत करो, मन को स्थिर करो। यह शरीर नश्वर है, इसके लिए क्यों रोते हो।

विभीषण ने श्रीराम से कहा कि मैं पुत्र शोक से नहीं रो रहा हूँ। मैं धन्य हूँ और मेरा पुत्र भी पुण्यात्मा है, जिसने आपके हाथों मरकर निर्वाण प्राप्त किया है। सम्भवतः वह वैकुंठ गया या गोलोक, उसने अपना राक्षस शरीर त्यागा और आपने उसे मुक्त कर दिया। कुम्भकर्ण, अतिकाय आदि आपके शत्रुओं ने भी मुक्ति प्राप्त कर ली है। तुम्हारे चरण कमलों की सेवा कर मुझको क्या लाभ प्राप्त हुआ? यदि मैं इस शरीर को त्याग सकता तो मैं भी वैकुंठ जा सकता था। किन्तु ब्रह्माजी ने मुझे वर दिया कि मेरी मृत्यु नहीं होगी और पृथ्वी पर मुझको बहुत दुःख देखना और सहना पड़ेगा। इसी चिन्ता में मैं रो रहा हूँ। श्रीराम बोले, हे विभीषण

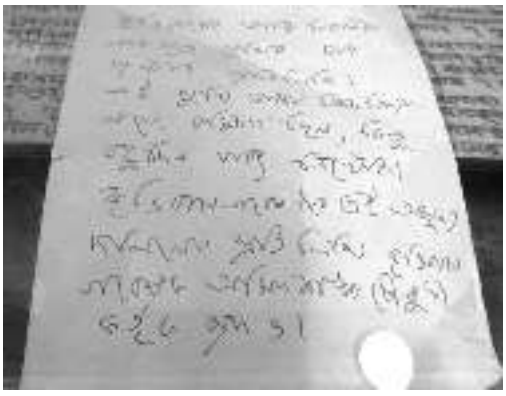

दुःख मत करो, क्योंकि साधु के लिये जीवन–मृत्यु दोनों बराबर हैं। जितने दिन तुम इस संसार में रहोगे सदा तुम पर मेरी कृपा बनी रहेगी। यह सुनकर विभीषण ने अपना क्रन्दन रोक दिया। उधर दूत ने रावण से जाकर कहा– हे लंकेश्वर ! आज तरणीसेन वीरगति को प्राप्त हो गये। तरणीसेन की मृत्यु का समाचार सुनकर रावण सिंहासन से जमीन पर गिर गया। इधर पुत्र–शोक में तरणीसेन की माता सरमा (जो कि गन्धर्व राज शैलूष की पुत्री थी), के सारे अंग आँसुओं से भीग गये। सरमा ने किसी तरह मन को समझाया कि यह शरीर नश्वर है। सरमा को जानकीजी ने तरह–तरह से समझाकर ढाढ़स बँधाया।

विभीषण ने अन्यायी–अत्याचारी–अहंकारी राक्षसवृत्ति रावण से मुक्ति हेतु अपने प्राण–प्रिय पुत्र का भी वध श्रीराम से करवाकर जो आदर्श प्रस्तुत किया है, वास्तव में वह 'श्रीराम पांचाली' में वर्णित एक विशिष्ट प्रसंग है, विभीषण की श्रीराम से मित्रता त्याग–बलिदान, सुख–शांति और लोककल्याण पर आधारित थी।

तरणीसेन का यह कथा–प्रसंग कृत्तिवास रामायण में अन्य श्रीरामकथाओं से अलग एवं विशिष्ट है। **जो हिन्दी लोक में प्रचलित श्रीराम कथा को एक नया आयाम देता है और इस कथा के पुनर्वाठ की एक नई संभावना को खोलता है।**

◆◆◆

साक्षात्कार

इस संसार में हम अकेले नहीं हैं

(प्रख्यात उड़िया लेखिका प्रतिभा राय से रोहित कुमार की बातचीत)

उड़ीसा में जन्मी प्रतिभा राय (जन्म 21 जनवरी, 1943) समकालीन भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। चिकित्सक बनने के पिताजी के सपने को पीछे छोड़ इन्होंने शैक्षणिक मनोविज्ञान में पी.एच–डी. की डिग्री हासिल की। बोंडा जनजाति पर इनका यह नृशास्त्रीय अध्ययन 'आदिभूमि' नाम से प्रकाशित उपन्यास में अभिव्यक्त हुआ है। सामाजिक अन्याय और भ्रष्टाचार के विरुद्ध लिखने वाली प्रतिभा राय ने निबंध एवं कविताओं के अलावा अब तक 20 से अधिक उपन्यास, 24 लघुकथा संग्रह, 10 यात्रावृत्त संकलन लिखे हैं। मूर्तिदेवी पुरस्कार पाने वाली इस लेखिका को उड़िया उपन्यास 'शिलापदम्' के लिए 'ओड़ीसा साहित्य अकादमी पुरस्कार' (1986) मिला। यह उपन्यास हिंदी में 'कोणार्क' शीर्षक से प्रस्तुत हुआ है। केरल राज्य के प्रतिष्ठित 'अमृता कृति पुरस्कार', कथा संग्रह 'उल्लंघन' के लिए 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' (वर्ष 2000) और वर्ष 2007 में इन्हें 'पद्मश्री' से सम्मानित किया जा चुका है। इसके अलावा इन्हें 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से भी नवाजा गया है। इनकी कृतियों में 'याज्ञसेनी' तथा 'शिलापदम्' सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं जिनका हिन्दी अनुवाद क्रमशः 'द्रौपदी' एवं 'कोणार्क' के रूप में सामने आया। भारत समेत अनेक अन्य देशों में अनूदित होकर पढ़ी जाने वाली प्रतिभा राय विचारधारा के स्तर पर खुद को मानवतावादी कहती हैं। इन्होंने अपने कथा संसार में मुख्यतः पौराणिक हिन्दू चरित्रों को जीवित किया है और उन्हीं के जरिए समसामयिक विसंगतियों एवं समस्याओं की ओर अपने पाठकों का ध्यान खींचा है।

■ **रोहित कुमार : वह कौन सी बेचैनी थी जिसने आपको लिखने पर मजबूर किया?**

❑ **प्रतिभा राय** : देखिए मुझे दो तरह से बेचैनी होती है। एक तो जब बहुत खुश हो जाती हूँ तो बेचैन होती हूँ कि कैसे इसे व्यक्त करूँगी? खुशी और आनंद को अकेले आत्मसात करने का मन नहीं होता है। उसे मैं बांटना चाहती हूँ। लेखन का मतलब ही है बांटना। खुद अकेले नहीं खाना है। इसलिए जब सुन्दर इंद्रधनुष को देखकर खुश होती हूँ तो एक कविता लिख देती हूँ। ऐसे में मेरे साथ इस खुशी में सब शामिल हो जाएंगे। जब दुःख देखती हूँ तो भी बेचैन हो जाती हूँ। गरीबी, धर्म, जाति

और नस्ल के आधार पर जो भेदभाव होता है। और यह छुआछूत, कि उनको छू देने से नहाना होगा... तो ऐसी बातें मुझे परेशान करती हैं। इन सबसे बचपन से ही नफरत है मुझे। ऐसी भावना खुद–ब–खुद मेरे अंदर से आती थी, किसी ने मुझे ऐसा सिखाया नहीं। मेरे पिता गांधीवादी थे, उनका प्रभाव शायद मेरे ऊपर पड़ा हो। तो इन दो तरह की बेचैनी–आनंद और दुःख–में मैं दूसरों की जिन्दगी के हरेक हिस्से का उत्सव मनाती हूँ। उससे प्रभावित भी होती हूँ। मेरी जिन्दगी सिर्फ मेरी जिन्दगी नहीं है। हमारी जिन्दगी दूसरों के साथ मिलकर ही चलती है। हम एक साथ खुश और दुखी होते हैं। समाज में एक पर यदि कुछ घटेगा तो सभी प्रभावित होते हैं। जब बम ब्लास्ट होगा तो सिर्फ मैं ही नहीं मरूँगी, बहुत सारे लोग मरेंगे। ये जो वायु तथा जल प्रदूषण होते हैं, पर्यावरण की जो क्षति होती है, भूमंडलीय तापमान में जो वृद्धि होती है, इससे सभी प्रभावित होते हैं। तो हम इस संसार में अकेले नहीं हैं, हम साथ–साथ जीते हैं। ऐसे में जब एक लेखक लिखता है, तो वह सिर्फ खुद का दुःख नहीं लिखता है। वैश्विक दुःख को व्यक्त करने से ही वैश्विक साहित्य बनता है।

■ आपने आदिवासियों के बीच रहकर लेखन किया है। उसके बारे में कुछ बताएं?

❑ पता नहीं क्यों, मैं बस उनकी तरफ खिंची चली जाती हूँ। मेरा मानना है कि हम सब पहले के आदिवासी ही हैं और मैं सोचती हूँ कि मैं उनके बीच रुक गयी हूँ उस दिन से। चाहे ऑस्ट्रेलिया जाऊं या अफ्रीका जाऊं, मैं हमेशा उन असली लोगों के बीच चली जाती हूँ, उनके बारे में लिखती हूँ। अनायास ही मैं उनके प्रति खिंची चली जाती हूँ। मैंने जो उपन्यास 'आदिभूमि' लिखा है, उसमें सभ्यता के विकास को दिखाया गया है कि कैसे छत को, फिर दीवार को बनाया गया और फिर उस दीवार से मास्क पहनकर मनुष्य निकल आया और यही चरमोत्कर्ष है सभ्यता का। हम सब एक मास्क पहने हुए हैं। आदिवासियों के पास यह मास्क नहीं है, इसीलिए मैं उनकी तरफ खिंची चली जाती हूँ।

■ उपन्यास 'द्रौपदी' की रचना प्रक्रिया के बारे में कुछ बताएं?

❑ जब भी मैं कुछ लिखती हूँ, एक समाधि की स्थिति में होती हूँ। इस दुनिया से, अपने दुःख से, सुख से, अपने बच्चों से, पति से, परिवार से दूर एक अलग दुनिया में चली जाती हूँ और उस दुनिया में मैं जिन्हें लिखती हूँ उनसे ही केवल बातें होती हैं। वहां मेरा व्यक्तिगत सुख–दुःख नहीं होता, वह सार्वजनिक हो जाता है।

■ द्रौपदी जैसा चरित्र आपके जेहन में कहाँ से आया?

❑ असल में मैं जब बहुत छोटी थी तो एक नाटक में द्रौपदी को देखा था। उसमें जब द्रौपदी का चीरहरण हुआ, तो मैं बड़ी गुस्सा हुई। उस वक्त मैं सबसे गुस्सा हो गयी–पांडवों से, कौरवों से, दर्शकों से और अपने पिता से भी जो उस वक्त नाटक के दर्शकों में मौजूद थे। मैं अपने पिता से बोली कि आप इस अन्याय को वहां बैठकर देख रहे थे, कुछ बोला भी नहीं आपने। तब उन्होंने कहा कि यह महज एक नाटक था। मैंने कहा–ऐसा गन्दा नाटक क्यों? वो बोले, वासुदेव ने यह उस काल में लिखा तो मैं क्या करूँ! मैंने कहा, क्यों लिखा ऐसा? उन्होंने जवाब दिया– बड़ी हो जाओ, महाभारत पढ़ो और सोचो इसके बारे में। ...कहें कि वही एक बुनियाद थी, जो मुझ में पलती रही। तीस साल की उसी बेचैनी से 'द्रौपदी' लिखना संभव हो पाया।

■ आप मूलतः उड़िया में लिखती हैं जो अनूदित होकर हिंदी के पाठकों तक पहुंचता है। क्या यह हिन्दी अनुवाद आपको संपूर्ण रूप से संप्रेषित कर पाया है?

❑ अनुवाद ठीक–ठाक है। अनुवाद अच्छा न होने से लेखक को बहुत कष्ट होता है। अनुवाद सबसे ज्यादा दायित्व का काम है, उसमें बहुत जोखिम भी है। एक लेखक कभी संतुष्ट नहीं होता है। तब भी मैं अपनी रचनाओं के अनुवाद से संतुष्ट हूँ।

■ आपकी नजर में आज साहित्य में किन विषयों पर लिखने की सबसे ज्यादा जरूरत है?

❑ साहित्य तो समाज के साथ चलता है लेकिन पीछे वह अपनी जड़ों को नहीं छोड़ता है। जड़ में पैर जमाकर ही वह बाहर हाथ फैलाता है। हमारी भारतीय संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रतिष्ठा है। हम 'ॐ शांतिः शांतिः' का उच्चारण करके शांति के देवता को भी शांत करते हैं। सिर्फ अग्नि, वरुण, वायु, वनस्पति को ही नहीं, शांति के देवता को भी मंत्र से संतुष्ट करते हैं। तो अभी विश्व में जो आतंकवाद है, मानव की हत्याएं होती हैं, हिंसा है, ये सब बहुत बेचैन करती हैं मुझे। अभी तो इन विषयों के बारे में ही लिखा जाना चाहिए। मेरा जो नया उपन्यास है 'आखिरी ईश्वर', वह इसी पर आधारित है। हमें वे भगवान चाहिएं जो हमारे प्रश्नों का उत्तर दें। हमें नीरव मूक ईश्वर की जरूरत नहीं है। ईश्वर सिर्फ मुस्करा कर

बैठेंगे और सब देखेंगे, ऐसे ईश्वर की हमें जरूरत नहीं....वे हमारे साथ बातचीत करें, हमें समझाएं कि क्यों होता है ऐसा। निष्कर्ष यह कि इन विषयों पर ज्यादा लिखा जाना चाहिए, लेकिन लेखक को कोई निर्देशित नहीं कर सकता। किस विषय पर लिखना है, वह लेखक ही जाने।

■ आपकी वह कौन सी रचना है जिसे लिखकर आपको सबसे ज्यादा संतोष मिला?

❑ किसी भी रचना ने मुझे सम्पूर्ण संतुष्टि नहीं दी है। असंतोष ही मुझे आगे और एक रचना लिखने के लिए प्रेरित करता है और उसे जब लिखकर खत्म करती हूँ तो सोचती हूँ, बहुत कुछ बात तो कहना रह ही गयी।

■ अगर संतोष के इस प्रश्न को पाठकों पर पड़े प्रभाव के सन्दर्भ में देखें तो आपका जवाब क्या होगा?

❑ पाठक के संतुष्ट होने से लेखक संतुष्ट नहीं होगा। 'द्रौपदी' से पाठक बहुत संतुष्ट हैं लेकिन मैं उसे दुबारा लिखूंगी, ज्यादा लिखूंगी, नया लिखूंगी। मैं खुद पूर्णतः संतुष्ट नहीं हूँ। जिस रचना से मैं सबसे ज्यादा असंतुष्ट होती हूँ, वह मेरे लिए सबसे अच्छी रचना होती है।

■ आजकल साहित्य के नाम पर नयी विधाओं को गढ़ा जा रहा है। इस नए चलन पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

❑ चलताऊ विधाओं की उम्र छोटी होती है। रात को आया, सुबह गायब। उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं है। स्थायी मूल्य उसका है जिस रचना में स्थायी मूल्यबोध है। प्रेम तो रहेगा ही, उसी से तो सब कुछ शुरू होता है। भगवान ने हमारे अंदर यह स्वाभाविक गुण दिया है कि एक लड़का एक लड़की के प्रति और एक लड़की एक लड़के की तरफ आकर्षित होगी। परंतु आज प्रेम का स्वरूप बिगड़ता जा रहा है, उस पर फिर से सोचने की जरूरत है।

■ आपकी भावी योजना क्या है? नया क्या लिखने वाली हैं ?

❑ अभी तो 'आखिरी ईश्वर' लिखा है, लेकिन उससे मैं खुद संतुष्ट नहीं हूँ। मेरे पाठक भी संतुष्ट नहीं हैं कि यह क्या... एक द्वीप पर उसे पहुंचा दिया और वहां वह समुद्र से प्राप्त लड़की के सहयोग से से विश्वशांति स्थापित करेगा। यह असल में लीबिया, सीरिया की घटना को लेकर लिखा गया है लेकिन इसकी पृष्ठभूमि में सारी दुनिया है। उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र है एक मानव, एक अनाथ। इसका अगला भाग भी शायद आए। मैं अभी खुद द्वन्द्व में हूँ।

◆◆◆

धर्म की शाश्वत संकल्पना

- डॉ. रेणुका राठौड़
पूर्व निदेशक, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

आधुनिकता का सीधा अर्थ है - खुलापन, नवीनता और वैचारिक स्वातन्त्र्य। विचार के धरातल पर देखें तो पिछले हजारों वर्षों के इतिहास में मनुष्य प्रजाति अनेक उतार-चढ़ावों की साक्षी बनी। आज वैश्विक-पटल पर यह स्थिति वस्तुतः कुटुम्बवत् दिखलायी पड़ती है, जिसका बहुत बड़ा श्रेय सूचना-क्रान्ति को जाता है। किन्तु 'धर्म' एक ऐसा विषय है जो समय के साथ संकीर्ण और संकुचित हुआ है। विगत दो हजार वर्षों में धर्म के नाम पर समूचे विश्व में जो रक्तपात हुआ, वह एक कलंक ही है। पृथ्वी का ऐसा कोई भाग नहीं है जो इस महामारी से अछूता हो। अपनी वैचारिक सम्पदा को ठीक से व्याख्यायित और प्रचारित न कर पाने के कारण भारत भी इसकी चपेट में है।

आज पूरा विश्व 'धर्म' के स्वरूप को लेकर पश्चिम का अनुगामी है, इसीलिए उपासना-पद्धति एवं इष्ट-पूजा के आधार पर व्यक्ति के 'धर्म' का निर्धारण करता है। धर्म वस्तुतः हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, यहूदी, जैन, बौद्ध आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। धर्म के इस सकुंचित दायरे में सिमटी मानसिकता आज विश्व-शान्ति के लिए एक खतरा बन गयी है। इस सन्दर्भ में प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रसंगों को पुनर्स्थापित करना आवश्यक हो गया है। संस्कृत भाषा में प्रदत्त धर्म की संकल्पना युगजन्य न होकर शाश्वत है और यही इसका वैशिष्ट्य भी है।

यह भी महदाश्चर्य का विषय है कि ईसा से कम से कम पांच हजार वर्ष पूर्व भी विश्व के इस भूभाग में ज्ञान इतने उच्च स्तर पर पहुंच चुका था कि पूरा समाज अस्तित्व के साथ एकाकार होते हुए आनन्द के साथ जीवन-यापन कर रहा था। इसका स्पष्ट प्रमाण ऋग्वेदादि वे ग्रन्थ हैं जिनमें विस्तार से तात्त्विक चिन्तन उपलब्ध होताहै। इस व्यवस्था के नियामक वे प्रबुद्ध-जन थे जिन्हें 'ऋषि' नाम से सम्बोधित किया जाता था। यास्काचार्य 'निरुक्त' में कहते हैं -

''साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः।
टऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्
सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरेबिल्मग्रहणायेमं
ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च।।
- निरुक्त 1.20

अर्थात् प्रारम्भ में ऐसे ऋषि हुए, जिन्होंने धर्म का स्वयं साक्षात्कार किया था। उनके पीछे ऐसे लोग आये, जिन्होंने स्वयं धर्म का साक्षात्कार नहीं किया। उन्होंने उपदेश द्वारा मन्त्रों को प्राप्त किया। उनके भी अनन्तर ऐसे लोग हुए, जिनको मन्त्रोपदेश में रुचि नहीं थी। उन्हीं लोगों ने मन्त्रार्थ को समझने के लिए वेद और वेदांगों का संग्रथन किया।

निरुक्त की यह परिभाषा 'धर्म' के विषय में भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है। वैदिक दृष्टि समष्टि को अपना प्रारम्भ बिन्दु मानती है। इसने ब्रह्माण्ड को केन्द्र में रखकर विस्तार से इसके सत्य को जांचा - परखा। तदनन्तर समाज द्वारा धारण करने के लिए एक व्यवस्था का निर्माण किया। समष्टि-संचालन के लिए इसी सुन्दर सत्य को 'धर्म' नाम दिया गया। यहां प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वेद स्वयं किसी देश-विशेष अथवा जाति-विशेष की चर्चा न करके सम्पूर्ण विश्व समुदाय की चर्चा करते हैं -

सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववाराः।

धर्म के साक्षात्कारकर्त्ता ऋषि को कवि अथवा क्रान्तदृष्टा भी कहा गया, जिन्होंने सत्य को ही नहीं उस ऋत् को भी देखा जो विश्व व व्यवस्था का आधार है। ऋग्वेद कहता है कि ऋत् और सत्य सृष्टि के प्रारम्भ में तप से उद्भूत हुए -

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

ऋत और सत्य इस समष्टिगत धर्म के दो आधार स्तम्भ हैं अर्थात् कुछ स्थायी मूल्य हैं जो शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील हैं जो प्रत्येक काल-परिस्थिति में यथावत् बने रहते हैं। दूसरी ओर कुछ नियम समय के साथ नवीनता को धारण करते हैं। धर्म के परिक्षेत्र में ये दोनों भाव समाहित हैं। वस्तुतः धर्म शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है, वर्तमान शब्दावली में इसे हम 'होलिस्टिक एप्रोच' भी कह सकते हैं। धर्म केवल पारलौकिक स्वर्गादि विषयों का ही प्रतिपादन नहीं करता वरन् अर्थ व काम जैसे इहलौकिक विषयों का भी नियमन करता है। साथ ही वह मोक्ष के साधक आत्मज्ञान का भी उपाय है। यह 'धृ' धातु से निष्पन्न है अर्थात् संसार में जो कुछ भी मनुष्य द्वारा धारण किया जाये वह सब 'धर्म' की सीमा में समाहित हो सकता है।

धर्म इस समष्टि को व्यष्टि से जोड़ने की कड़ी है। समस्त वैदिक सन्दर्भ इस व्यवस्था-सिद्धान्त या आचरण के व्यापकत्व की ओर ही संकेत करते हैं –

- पितुं न स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। ऋः1.186.1
- त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव। ऋः 10.21.3
- आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे। ऋः 4.53.3
- धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। ऋः 5.63.7

उपर्युक्त समस्त सन्दर्भ धर्म की व्यापकता की ओर इंगित करते हैं। कालान्तर में ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्र-ग्रन्थों, स्मृतियों, दार्शनिक सम्प्रदायों ने इस बहुआयामी शब्द को यथासम्भव इसी रूप में व्यवहृत किया।

गौतम धर्मसूत्र कहता है कि धर्म की जड़ 'वेद' में है और उसी का प्रतिपादन स्मृतियां भी करती हैं -

वेदो धर्ममूलम् । तद्विदां च स्मृतिशीले।
– गो.ध.सू. 1.1.2

आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहते हैं - धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। अर्थात् जो धर्मज्ञ हैं, जो वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म-प्रमाण है। मनुस्मृति में इसी भाव को व्यापक करते हुए धर्म के पांच उपादान बतलाये गए हैं -

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।
– मनु स्मृति 2.6

ये उपादान हैं - सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा और उनका व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इतनी उदात्त भावना के साथ जीवन के स्वरूप की संकल्पना करने वाली मनुष्य जाति आज संकीर्ण विचारों के जाल में उलझ रही है। धर्म के नाम पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई एक दूसरे के प्रति घृणाभाव को फैला रहे हैं। इतना ही नहीं, खुद एक धर्म में भी कई मत-मतान्तर हैं और सभी आपस में उलझ रहे हैं। महर्षि मनु कहते हैं कि धर्म युगानुसार बदलता भी है। सत्युग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलियुग में दान ही धर्म है -

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।।
तपं परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।
– मनु स्मृति 1/85-86

ऋषि-प्रज्ञा की दूरदृष्टि का यह अन्यतम उदाहरण है। आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व मनु ने कलियुग में 'दान' को धर्म की संज्ञा दी। अर्थ-प्रधानता के इस युग में दान ही सर्वाधिक प्रासंगिक है। वह व्यक्ति की अर्थलोलुपता को तो संयमित करता ही है, उसके मद तथा मात्सर्य का भी शमन करता है।

स्वामी विवेकानान्द ने अनेकशः अपने उद्बोधनों में धर्म को भारत की 'आत्मा' कहा है। इस आत्मा का पोषण हमारा कर्त्तव्य है। यही वर्तमान विसंगतियों के निराकरण का भी उपाय है। इसके लिए जीवन में समग्र तथा सकारात्मक दृष्टि का विकास आवश्यक है। आज धर्म के नाम पर फैल रहे अन्धविश्वास, भय तथा कर्मकाण्डीय दृष्टि को 'तर्क' की तलवार से काटना होगा। महाराज मनु का कथन इस प्रसंग में अत्यन्त सटीक है -

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
– मनु स्मृति 12/106

अर्थात् जो मनुष्य वेद और ऋषि विहित धर्मोपदेश अर्थात् धर्मशास्त्र का वेदशास्त्र के अनुकूल तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है वही धर्म के तत्त्व को समझ पाता है, अन्य नहीं।

◆◆◆

जलियाँवाला बाग त्रासदी का शताब्दी स्मरण

अमृतसर मृतसर कर डाला!

- राजमणि
पूर्व सहायक निदेशक, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली

13 अप्रैल 1919! बैशाखी के उछाह में लोग अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एकत्रित थे – निहत्थे!

अमृतसर में आज एक विरोध सभा के आयोजन की चर्चा थी लेकिन कोई उग्र प्रदर्शन वहाँ कतई नहीं था। लेकिन यह क्या? ओडायर नामक अंग्रेज अफसर ने इस बाग के एकमात्र निकास को घेरकर वहाँ एकत्र शांतिपूर्ण भीड़ पर एकाएक गोलियाँ चलवा दी...अकारण! पाँच सौ से अधिक लोग तत्काल दम तोड़ गए और हजारों लोग घायल हुए...बच्चे, बूढ़े, महिलाएँ और नौजवान! कहते हैं कुल दस-बारह मिनट के अंतराल में भीड़ पर लगभग दो हजार फायर किए गए। जलियाँवाला हत्याकांड के समय, बैसाखी के इस त्योहारी मौके पर एकत्र हुए लोगों की जलसेवा ऊधमसिंह नाम का एक बीस वर्षीय सिक्ख युवक कर रहा था। दिल हिला देने वाली इस मर्मांतक घटना के बाद ऊधमसिंह ने तय किया कि वह हर हाल में अपने लोगों की इस निर्दोष हत्या का बदला लेगा। ऊधमसिंह ने 21 वर्षों बाद, सन् 1940 में, लंदन शहर के एक सभा भवन में हत्यारे ओडायर को गोली से उड़ाकर इस जघन्य हत्याकांड का बदला लिया।

इतिहास के उस एक शताब्दी पुराने पन्ने को यहाँ पुनः पलट रहे हैं वरिष्ठ लेखक एवं पुरातत्वविद् श्री राजमणि श्रीवास्तव।

13 अप्रैल 1919 को अमृतसर के जालियाँवाला बाग़ में निहत्थे भारतीयों को शांतिपूर्वक प्रदर्शन के विरोध में ब्रिटिश शासकों द्वारा ताबड़तोड़ गोलियों का सामना करना पड़ा। विश्व के किसी भी देश के इतिहास में इतनी बड़ी अमानवीय घटना कहीं भी

देखने को नहीं मिलती है। हालांकि इस हत्याकांड की जांच के लिए अंग्रेज़ हुकूमत ने लार्ड हंटर की अध्यक्षता में एक कमेटी बैठाई थी परंतु इस से आम हिन्दुस्तानी संतुष्ट नहीं थे। तत्पश्चात आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में दूसरी जांच शुरू की। इस कमेटी में मोहनदास करमचंद गांधी व चितरंजनदास के अलावा कई अन्य जनप्रतिनिधि भी शामिल थे। 1920 में मोतीलाल नेहरू ने अपनी रिपोर्ट दो खंडों में पेश की। उस रिपोर्ट के भाग दो में लगभग 650 उन लोगों के बयान दर्ज किए गए थे जो जालियाँवाला हत्याकांड के या तो प्रत्यक्षदर्शी थे या फिर उन्होंने पंजाब में ब्रिटिश शासन की ज़्यादतियों को सहा था।

ऐसी ही एक गवाह थीं – रतन देवी उर्फ रत्तो देवी बेवा छ्ज्जू भगत। उन्होंने 13 अप्रैल 1919 की रात अपने पति की तलाश में जालियाँवाला बाग में गुज़ारी और रातभर अपने पति की लाश के साथ रह कर आस–पास के घायलों की मदद भी करती रहीं। खत्म न होने वाली उस भयावह रात की सुबह अपने पति की लाश को कुछ लोगों की सहायता से चारपाई पर घर लाईं । अपने बयान में उन्होंने कहा था – "पूरी रात एक सुनसान, वीरान, खून से लथपथ सैकड़ों मुर्दों के बीच गुजारी। उस रात लाशों की बस्ती में मैं ही एक ज़िंदा हस्ती थी। कभी–कभी दूर या नजदीक आपस में लड़ते और भौंकते कुत्तों की आवाज़ बेशक सुनाई देती थी। मैं वह नज़ारा कभी नहीं भूल सकती"।

हालांकि, रतन देवी का बयान उस रिपोर्ट में लोगों को बहुत बाद में पढ़ने को मिला परंतु कानपुर से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'प्रभा' में श्रीयुत् "परन्तप" जी द्वारा रचित एक लम्बी कविता 'भारतीय बाला' के नाम से दिसम्बर 1920 के अंक में प्रकाशित हुई थी। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस पत्रिका के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी थे। इस कविता के साथ उन्होंने रतन देवी का छायाचित्र भी 'वीरांगना रतन देवी' शीर्षक के साथ प्रकाशित किया था। उस समय के सीमित संसाधनों के बावजूद जलियाँवाला बाग़ हत्याकांड से संबंधित एक महत्वपूर्ण चरित्र की विस्तृत सूचना हिंदी पट्टी के पाठकों तक पहुंचाने का संपादक व रचनाकार का यह समर्पण भाव निश्चित रूप से हम सब के लिए प्रेरणादायक है।

यह कविता जहां एक ओर हत्याकांड का पूरा विवरण देकर इतिहास स्रोत रूप में शोधार्थियों को आकर्षित करती है, वही इसकी प्रांजल भाषा हिंदी साहित्य और कविता के चाहने वालों को उस काल के लेखकों की भाषा पर चिंतन करने को मजबूर करती है। साथ ही "परन्तप" नाम के रचनाकार के विषय में भी यथार्थ अनुसंधान की जरूरत को रेखांकित करती है।

भारतीय बाला

1) बसंती वैभव था सर्वत्र,
धरित्री पर सुमनों का छत्र,
नवोदित या निसर्ग–नक्षत्र,
पुलकते थे पल पल पर पत्र
प्रकृति का प्यारा पर पंजाब
पिसा पाकर पशुता की दाब।

2) भीड़ से जालियाँ वाला बाग
भरा, सुन रहा राष्ट्र का राग,
अचानक उगली किसने आग !
कहाँ से आया काला नाग ?
अचेतों पर यों कायर–वार

किया पामर डायर! धिक्कार !

3) वह्नि–वर्षण से नभ था लाल,
बाग था बना रुधिर का ताल,
लक्ष्य थे निरपराध वे बाल !
खड़ा था ब्रिटिश–वीर विकराल !
इधर जरनल था राक्षस–रूप,
उधर शरणा स्थल था बस कूप।

4) चलाकर चलदल पुलकित पर्ण,
हो रहा था मानो उत्कर्ण,
ताप से तृण तक हुए विवर्ण,
करें कैसे वर्णन कवि–वर्ण ?
अंग प्रत्यंग पड़े प्रक्षिप्त,
घिरे घायल थे रक्त–विलिप्त।

5) मीन ज्यों व्याकुल वारि–विहीन,
तड़पते थे परवश वे दीन,
ध्यान भी न था कि महा मलीन
शासकों में है एक सुधीन,
ब्रिटिश का न्याय विश्व विख्यात
यही है हुआ उन्हें अब ज्ञात ।

6) जिधर था एक संकुचित द्वार,
उधर ही उमड़ा ज्वालोद्गार,
विलक्षण थी वह विह्वल– मार,
किसी विध था न वहाँ निस्तार ,
जहां जाते थे भुन जाते
किसी की बात न सुन पाते!

7) पड़ी थी किस की देह कहाँ ?
किसे था किस का स्नेह कहाँ ?
जलों से मिलता मेह कहाँ ?
नहीं था चेत कि गेह कहाँ ?
चढ़े बलि–वेदी पर सप्रमोद
सो गये मातृभूमि की गोद !

8) जिन्होंने सुन गजराज– पुकार,
ग्राह से किया त्वरित उद्धार,
द्रौपदी का दुकूल विस्तार
दिया दुःशासन का मद मार
देख यह नर–मृगया का खेल
पड़ा उन कानों में भी तेल ।

9) उन्हें इस विध अनाथ अवलोक,
छा गया सन्ध्या के उर शोक,
सकी वह अधिक न रवि–रथ रोक,
हुआ सत्वर अदृश्य आलोक,
तिमिर का पट निज मुख पर डाल
छिपाया उसने लज्जित भाल।

10) बढ़ी थी विह्वलांग की आह,
देखकर यों विपक्ष–दल–दाह,
पूर्ण करके निज मन की चाह,
चल दिया नर– पिशाच सोत्साह,
सो गई सन्नाटे में सृष्टि,
वीर बाला आई तब दृष्टि।

11) प्राणपति अभी न आए आज,
चातुर्दिक चिन्ता का है राज,
हुआ है व्यग्र समस्त समाज,
न जाने क्या–क्या हुआ अकाज।
सोच यों वह अविलम्ब चली,
छली दुर्विधि से वीर–लली।

12) आगई जब रुधिरांगण में,
पतित पुरुषों के प्रांगण में,
तभी अवलोका कण–कण में,
कोष करुणा का क्षण–क्षण में,
धराशायी था शव–समुदाय,
फटकता पास न कोई हाय !

13) मींचते दृग कोई कर से,
खींचते केशों को सर से,
विकल कोई जलते ज्वर से,
ठहरते थे सूखे स्वर से,
कर रहे थे पूरा नर–मेध
हुआ शिशुओं तक का बेध ।

14) विलपती पागल सी फिरती,
चौंकती कहीं–कहीं गिरती,
कहीं भह–भावों से घिरती,
कहीं चिर–चिन्ता से चिरती,
"रतन देवी" वर–ब्रता सती,
धैर्य धर बनी प्रयत्नवाती।

15) कहीं कुररी–क्रंदन करती,
कहीं डर सुर–वंदन करती,
विपद का अभिनन्दन करती,
आर्ति का स्वर मंदन करती,

भिगोती दृग–जल से धरती,
रही वह विपुल व्यथा भरती।

16) पड़ गया पति–शव दृष्टि अहा!
किन्तु था उर से रक्त बहा,
न था दुखिया का द्रव्य रहा,
गिरा था उस पर बज्र महा,
अंक में ले पति–शीश सखेद,
लगी करने हृदयों का भेद :–

17) विधाता ! मेरी मणि ली लूट,
गई किस्मत कितनों की फूट ?
पड़ी हा! सहसा बिजली टूट,
काल ने दिया कलेजा कूट,
अमृतसर मृतसर कर डाला !
डाल डायर– फ़ायर पाला।

18) रचा क्यों शोणित–सत्र कहो ?
करें क्या पुत्र कलत्र कहो ?
कहाँ है ब्रिटिश–छत्र कहो ?
हुआ ऐसा अन्यत्र कहो ?
न नादिरशाही से तुलना ?
पाप है मुख का भी खुलना !

19) मिलेगी मुझे सहाय कहाँ ।
बचावे जन जन जान जहाँ,
स्वावलम्बन सदुपाय यहाँ,
कि माँगू आश्रय–दान वहाँ,

विकल उठ गई घरों के पास,
जहां देखा था त्रास–निवास ।

20) सुनी जब उसकी कष्ट कथा,
अपूर्व श्रुत मानसी व्यथा,
किसे सुन मार्मिक क्लेश न था,
जाएँ बाहर आदेश न था,
बजे ज्योंही संध्या के आठ,
बंद होते थे सभी कपाट ।

21) मार्शल ला का शासन था,
प्रीति का पहरा पास न था,
जमा जुल्मों का आसन था,
भीति में नीति–निवास न था,
घोषणा घोर घमंड मयी
सुना, थी हर्षित जाति जयी।

22)न आशा ने आश्रय पाया,
नैश– नैराश्य निकट आया ,
नियति ने निज बल दिखलाया,
फिरी अबला पति को पाया ।
शीश जंघा पर रख वह आप,
लगी करने यों विविधलापः–

23) "न्याय का यह कैसा लक्षण ?
प्रजा का रक्षण वा भक्षण ?
देश में है कोई दक्ष न ?
प्रभो! तुम भी लोगे पक्ष न ?
नाथ ! मैं भी पांचाली हूँ,
निपट निर्दोष निराली हूँ।

24) जनक ! अब है कोई धन्वी न,
सुरक्षित तब तनया तन्वी न!
कहाँ हैं मानी महा कुलीन ?
हहा ! "वीरों से मही विहीन"
नहीं है कोई लक्ष्मण लाल !
धसकती धरा न क्यों इस काल?

25)यहाँ जीवित–मृत तीस करोड़,
कर रहे हैं भेड़ों की होड़,
चल बसी मनुष्यता मुख मोड़,
पड़ा इन निधन जनों को छोड़,
रहेंगे घर में अमर न वे
मान–मधु–प्रेमी भ्रमर न वे ।

26)क्रूर के कुत्सित कृत अवलोक,
त्याग बैठे मृतकों को, शोक !
कहाँ सामर्थ्य करें कुछ रोक ?
शून्य है साहस से यह लोक,
नहीं है शेष आत्म–सम्मान,
गिर गया है गुरुता का ज्ञान ।

27)जहां थे पूजा के उपचार,
वहाँ नारी का हा हाकार,
न सुनता कोई शिष्टाचार !
प्रभो ! पकड़ो, पकड़ो पतवार!
नहीं तो नइया डूबेगी,
अधोमुख ताल को छूवेगी।

28)ह ह ह ! हृदयेश, न है परिवार,
सखा संगी भी नहीं उदार,
न लज्जा लोकाचार विचार,
करूँ कानन में कहाँ पुकार ?
हुआ भारत से नष्ट नरत्व,
दासता खींच ले गई सत्व ।

29)कहाँ हैं ताना जी, शिवराज ?
धनंजय कहाँ न पृथ्वीराज,
जरा जर्जरित जटायु न आज,
बचे क्यों आर्यभूमि की लाज?
नराधम से नाता है,
विनिष्ठुर बना विधाता है।

30)रात भर इस निर्जन वन में,
उलूकों–काकों के घन में,
घृणा से घुटती मन–मन में
रखाऊंगी प्रियतम–तन मैं,
बनूंगी कुटिलों को काली,
आर्य–अवनी में हूँ पाली ।

31)बिताई उसने किस विधि रात,
ध्यान से होता कंपित गात,
हूक उठ करती कुलिश–निपात,
वही थी सहती जो आघात,
नहीं थे हाथों में हथियार,
सहे हा! हा!! ये अत्याचार।

32)हुआ सीमान्त निरादर है !
न कुछ भी जनता की दर है !
हमारा घर कारा घर है!
शेष अब क्या कोई डर है ?
बने हैं हम अनुभव के शिष्य,
कहेगा जो कुछ करें भविष्य।

◆◆◆

लेखकों से निवेदन

अपने आलेख एवं फोटोग्राफ आदि हमें अकादमी के पते पर या इस ई-मेल पर भेजें।

hindibuniyaad@gmail.com

हेमिंग्वे का घर

- युयुत्सु आर.डी. शर्मा

- विजिटिंग राइटर, कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क

''हम लोगों के पास यति है तो आप लोगों के पास हेमिंग्वे है'' संयुक्त राज्य अमेरिका के सुदूर दक्षिण में फ्लोरिडा राज्य के टापू किवेस्ट के स्थानीय रेडियो कंक के साथ हुई अंतर्वाता में मैंने कहा। शायद इसी रेडियो-वार्ता को सुनकर किवेस्ट स्थित हेमिंग्वे होम के निदेशक डेव गोंजालेज मेरे कविता वाचन कार्यक्रम में चले आए थे। कार्यक्रम के बाद उन्होंने मुझे हेमिंग्वे होम आने का निमंत्रण दिया - ''मैं आपको इस घर का एक अंतरंग अवलोकन करवा सकता हूँ'', उन्होंने कहा - 'मैं आपको हेमिंग्वे होम के उस निजी कक्ष में ले जाऊँगा जहाँ सर्वसाधारण के लिए प्रवेश वर्जित है।''

अगले दिन सुबह हेमिंग्वे होम में प्रवेश करते हुए मैंने इस अभियान को एक घुमंतू कवि की सुदूर यात्रा के एक सामान्य हिस्से के रूप में लिया था। किवेस्ट की यात्रा मेरे भ्रमण के दूसरे चरण के रूप में मानी जा सकती थी। फ्लोरिडा आने से पहले मुझे इसके पर्यटन-भूगोल के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं था। मैं इसे अन्य अमेरिकी राज्यों की भाँति स्थानीय परिवहन से जुड़े एक राज्य के रूप में ही ले रहा था।

न्यूयार्क विश्वविद्यालय में विजिटिंग कवि के रूप मेरा कार्यक्रम इतना व्यस्त हो गया था कि फ्लोरिडा जाने का समय एकदम नजदीक आने के बाद ही मैं पता लगा पाया कि फ्लोरिडा राज्य में अन्य दूसरे राज्यों की तरह ग्रेहाउंड परिवहन की बसों में सवार होकर एक शहर से दूसरे शहर में जाना संभव नहीं होता। मेरा पहला कविता वाचन डायटोना बे के मेरे

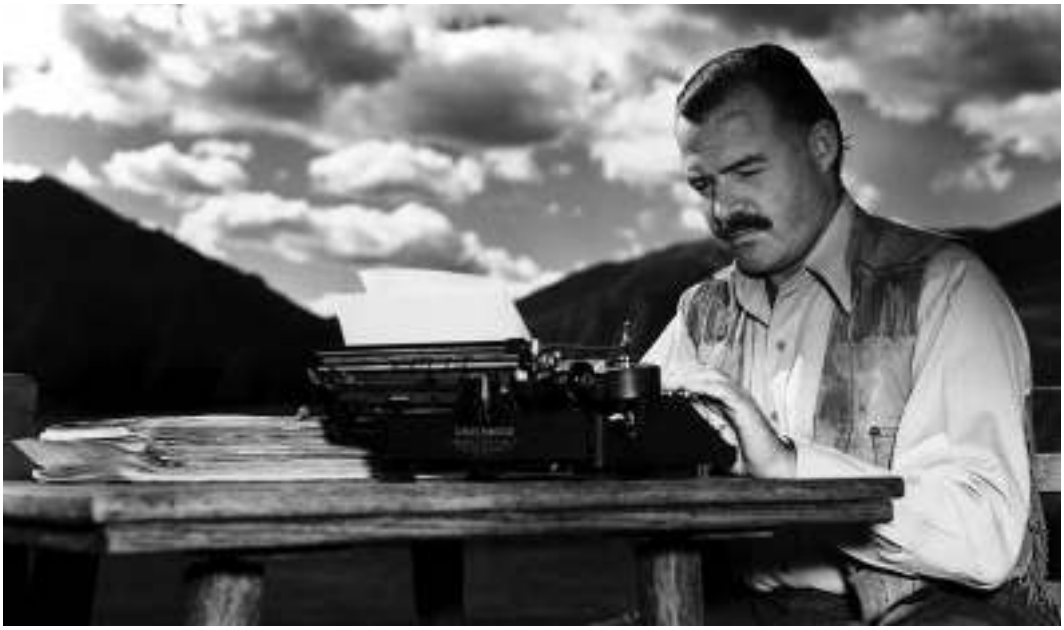

मित्र, लोंग आयलैंड के पूर्व पोएट लॉरियट, डेविड की एक्सल राथ ने सिनेमेक्स नाम के सिनेमा हॉल में आयोजित किया था और यह दूसरा कविता वाचन किवेस्ट में था। फ्लोरिडा में डायटोना बे से मुझे किवेस्ट जाने के लिए मियामी पहुँचकर दूसरी उड़ान लेनी पड़ी थी।

किवेस्ट में मुझे आमंत्रित करने वाली रचनाकर्मी सुजाना काइजर से मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। किवेस्ट पहुँचकर उनकी प्रतीक्षा करते हुए इसीलिए मेरे मन में अनेक शंकाएँ एवं उप शंकाएँ उत्पन्न हो रही थी - ''यदि वह नहीं आयी तो मैं कहाँ जाऊँगा?''

किवेस्ट के विमान-स्थल का लगेज बैल्ट काठमाँडू से भी छोटा था। एक पल बाद ही सुजाना वहाँ आ गयी और मैं उनके साथ महल जैसे उनके विशालकाय घर में जा पहुँचा। अगले दिन उन्होंने मेरे कविता वाचन कार्यक्रम के साथ-साथ स्थानीय कंक रेडियो पर साक्षात्कार निश्चित हो जाने की जानकारी भी दी।

ज्योंही मैं इस विश्व प्रसिद्ध रचनाकार के व्यक्तिगत कमरे में दाखिल हुआ, मुझे एकाएक बिजली का तार छू जाने जैसा आभास हुआ। मैंने अपनी आँखें घुमाकर इधर-उधर देखा, बायीं तरफ टेबल पर पुराना टाइप राइटर, एक पुरानी दराज में हेमिंग्वे के पढ़ने वाली पुस्तकें और दराज के ऊपर उनके द्वारा शिकार किए गए हरिण का एक सर दीवार पर जड़ा हुआ था। दायीं तरफ एक आरामकुर्सी बिछी थी जहाँ वे टाइप करते-करते थक कर सुस्ताया करते थे। और जब डेव ने मुझे उस टाइप राइटर के सामने लगी हेमिंग्वे की कुर्सी पर बैठने का आग्रह किया तो एक झटके से मेरी घुमंतू यात्रियों वाली तंद्रा खुली और एक अद्‌भुत-सी अनुभूति ने जैसे मेरे शरीर में प्रवेश किया। मैं एकाएक सिहर उठा। उस काले रंग की मजबूत कुर्सी पर बैठते-बैठते मेरी अंगुलियाँ अनायास ही उनके टाइप राइटर के शब्दों को दबाने के लिए जा पहुँची। हेमिंग्वे का सफेद दाढ़ी वाला चेहरा यकायक मेरे मानस पटल पर उभर आया और विश्व साहित्य की उन दुर्लभ स्मृतियों ने मुझे घेर लिया। मेरा शरीर काँप रहा है, मुझे लगा। पिकासो, वाले स्टीवेंस, जान दोस पात्सोस, चागेल, डाली, जेम्स जॉयस, गरट्रुंड स्टाइन और आर्किबाल मैक्लिश आदि हेमिंग्वे के सहकर्मी चेहरे मेरी आँखों के सामने एकाएक घूम गए।

किवेस्ट जैसे दूरस्थ टापू पर आना हेमिंग्वे के जीवन में महज एक इत्तफाक था। उनकी दूसरे नंबर की पत्नी पालिन के धनाढ्य अंकल मि. गस ने हेमिंग्वे को एक फोर्ड कंपनी की कार भेंट की थी। ''उसी कार की डिलीवरी लेने हेमिंग्वे किवेस्ट आए थे।'', डेव ने बताया।

कार के हस्तांतरण की प्रक्रिया में कुछ दिन का विलंब होने से हेमिंग्वे यह खाली समय किवेस्ट में बिताने को बाध्य हो गए थे। किवेस्ट पन्द्रह गुना पन्द्रह किलोमीटर का एक छोटा-सा टापू है जहाँ आप जिधर भी निकलें लहराता हुआ समुद्र आपका स्वागत करता है। इस अर्थ में किवेस्ट मुझे काठमाँडू जैसा ही लगा जहाँ हर तरफ पहाड़ आपका स्वागत करते हैं।

किवेस्ट आने से पहले हेमिंग्वे पेरिस में रह रहे थे लेकिन वहाँ के व्यस्त जीवन में नियमित रूप से लेखन संभव नहीं था। कार डिलीवरी के इतंजार में इस एकांत टापू पर समय बिताते हुए उन्हें यहाँ का वातावरण लिखने के लिए बेहद उपयुक्त लगा और अपनी इस धनाढ्य पत्नी के सहयोग से एक घर खरीदकर वह स्थायी रूप से यहीं बस गए।

इस समय तक उनका उपन्यास 'सन आलसो राइजेज' काफी चर्चित हो चुका था और पेरिस के साहित्यिक जगत के वे जाने-माने नाम बन चुके थे। लेकिन पेरिस के एक छोटे-से फ्लैट में बितायी अत्यधिक ठंडी सर्दियों की रातों के बाद किवेस्ट में मैक्सिकन गल्फ की स्टीम में पहुँचकर हेमिंग्वे ने राहत महसूस की।

अमेरिकी उपन्यासकार जान दोस पात्सोस ने कहा था कि यह जगह हेमिंग्वे के लिए ही बनी है, उनकी बूढ़ी हड्डियों में गर्माहट भर देने की जगह। किवेस्ट का वास्तविक नाम स्पेनिश भाषा में ''कायो हुए सो'' है। इसका अर्थ है - ''हड्डियों का टापू''। अतीत में इस टापू पर हुए अमेरिकन इंडियंस के महा नरसंहार के कारण इसका नाम ''हड्डियों का टापू'' पड़ा था। वे हड्डियाँ अब यहाँ नहीं थी तब भी हेमिंग्वे के लिए अपनी बूढ़ी हड्डियों को गर्म करने की दृष्टि से यह उपयुक्त जगह थी।

अपने जीवन के महत्वपूर्ण तीन दशक उन्होंने इसी किवेस्ट पर बिताए थे। यहाँ आते ही उन्होंने ''ए फेयरवेल टू आर्म्स'' उपन्यास को पूरा किया और ''दि

ओल्डमैन एण्ड दि सी'' को यहीं पर लिखना प्रारम्भ कर निकटवर्ती क्यूबा में जाकर उसको पूर्ण किया था।

इनका पहला उपन्यास युद्ध विरोधी कथा लिए हुए था जिसमें नायक युद्ध से भागकर अपनी प्रेमिका को भी अंतिम अलविदा कहने को बाध्य होता है। दूसरे उपन्यास के लिए इन्हें नोबल पुरस्कार से नवाजा गया था। एक माझी की कथा वाले इस उपन्यास का नायक इसके लेखक हेमिंग्वे की तरह ही किवेस्ट में रहते हुए बड़ी मछली ब्ल्यू मार्लिन वाहू और बिल फिश ह्वेल मारने जाता है। इस समय तक हेमिंग्वे अमेरिका में बहुचर्तित हो चुके थे।

उन्हीं दिनों की घटना है कि एक अमेरिकी प्रकाशक द्वारा एक हजार डालर का चैक भेजने के बाद बैंक कर्मचारियों ने हेमिंग्वे के औघड़, हिप्पियों जैसे चेहरे-मोहरे और लिबास को देखकर उन्हें इस चैक की धनराशि देने से मना कर दिया था। तब एक स्थानीय बार के मालिक जो रसल ने अपनी जामिन पर वह चैक भुनवा कर हेमिंग्वे को उनके एक हजार डालर दिलवाए। उस दिन से जो का बार हेमिंग्वे का प्रिय बार बन गया था और यही जो हेमिंग्वे के आगामी उपन्यास ''टू हैव एण्ड हैव नॉट'' के प्रमुख पात्र भी बने। आजकल स्लोपी जो-ज बार की शाखाएँ फ्लोरिडा भर में जगह-जगह देखने की मिलती हैं जिनमें हेमिंग्वे की तस्वीर को ट्रेडमार्क के रूप में दर्शाया जाता है।

किवेस्ट पर हेमिंग्वे के निवास के बारे में अध्ययन करते हुए मैंने उनके जीवन को लेकर कई अति अद्‌भुत बातों का पता लगाया। किवेस्ट हेमिंग्वे की रचनात्मक ऊर्जा के लिए अति उर्वर साबित हुआ। हेमिंग्वे स्वभाव से अत्यधिक उग्र और आक्रोशित व्यक्ति थे। हेमिंग्वे होम में ऊपर की मंजिल पर बने उनके व्यक्तिगत कमरे में जाते वक्त डेव ने मुझे उनके क्यूबाई साथी ग्रिगोरी फ्यूयेन्तो की तस्वीर दिखाई जो बाद में हेमिंग्वे के प्रसिद्ध उपन्यास ''दि ओल्ड मैन एण्ड दि सी'' के प्रमुख पात्र सैंटियागो के रूप में प्रस्तुत किए गए थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के सेना कैम्पों में हेमिंग्वे को एक नर्स के साथ इकतरफा प्रेम हो गया था लेकिन उस नर्स ने हेमिंग्वे के प्रेम निवेदन को ठुकरा दिया। ''ए फेयरवेल टू आर्म्स'' की नायिका यही नर्स बनी जिसकी तस्वीर भी यहाँ सैंटियागो की तस्वीर की बगल में टंगी हुई थी। लेखक ने स्वयं अपने ही चरित्र को लेकर गढ़े गए नायक के बच्चे को जन्म देते समय डिलीवरी ऑपरेशन के दौरान उल्लिखित उपन्यास में इस नर्स पात्र की मृत्यु को निर्ममतापूर्वक घटते

दिखाया है। यह उस निष्ठुर प्रेमिका से हेमिंग्वे का रचनात्मक प्रतिशोध था।

हेमिंग्वे के बैडरूम में प्रवेश करते हुए मैंने देखा, छः अँगुलियों वाली एक काली बिल्ली मस्त निद्रा में सो रही है। ऐसी छियासठ बिल्लियाँ उस घर में और थी जिन्हें हेमिंग्वे की प्रिय पालतू बिल्ली की आनुवंशिक विरासत माना जाता है और इन्हें हेमिंग्वे के सांस्कृतिक अवशेष के रूप में मान्यता मिली हुई है। ये बिल्लियाँ हेमिंग्वे के समूचे घर में निर्द्वन्द्व घूमती रहती हैं। बगीचे में मृतक बिल्लियों की समाधियाँ भी बनी हुई हैं।

हेमिंग्वे को मुर्गे लड़ाने, साँड़ों की भिड़ंत प्रतियोगिताएँ आयोजित करने तथा मुक्केबाजी का शौक था। वे वहाँ के गरीब अश्वेत युवकों का क्लब बनाकर बॉक्सिंग की प्रतियोगिताएँ भी करवाते थे। हालांकि खुद हेमिंग्वे की सबसे चर्चित भिड़ंत बॉक्सिंग रिंग के बाहर हुई थी। एक मुर्गा-लड़ंत प्रतियोगिता में प्रसिद्ध कवि वाले स्टीवेंस द्वारा हेमिंग्वे की कथाओं को तुच्छ बताया जाकर आलोचना करने के पश्चात् हेमिंग्वे द्वारा कमरपेटी से उनकी ठुकाई करने का तथ्य जग-जाहिर है। इस घटना के कुछ वर्ष पश्चात् जब हेमिंग्वे को ''दि ओल्डमैन एण्ड दि सी'' उपन्यास के लिए पुलित्जर पुरस्कार मिला तो उसी वर्ष संयोगवश कविता के लिए यह पुरस्कार वाले स्टीवेंस को देने की घोषणा हुई थी। नोबल जैसे प्रतिष्ठित पुरस्कार से नवाजे जाने के कारण हालांकि भारतीय उप महाद्वीप में हेमिंग्वे को एक शांतिप्रिय और सहिष्णु व्यक्ति के रूप में ही प्रायः स्वीकार किया जाता है।

बहरहाल, मैं जब हेमिंग्वे के कमरे में उनकी बिल्ली के साथ समय बिता रहा था तो उसी वक्त मेरी अतिथि सुजाना ने मुझे हेमिंग्वे के टाइपराइटर पर अंगुली टिकाए हुए मेरी फोटो कैमरे में दिखाई। यह फोटो जब मैने अपने सोशियल नेटवर्क पर डाली तो मुझे दर्जनों प्रतिक्रियाएँ हासिल हुई। उनमें से कुछ प्रतिक्रियाएं अत्यधिक उग्र और आक्रोशित करने वाली थी। एक अमेरिकी महिला लिख रही थी - ''आपकी तस्वीर में पीछे दिखने वाले हरिण के सिर के साथ-साथ उनकी अनगिनत पत्नियों के कटे हुए सर भी आपको वहाँ कहीं देखने को मिले क्या?''

मैं ऐसी प्रतिक्रियाओं को पाकर भौचक्का रह गया। कुछ पर्यावरणविद् हेमिंग्वे के इस शिकारी अवतार को अत्यंत घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें साक्षात एक साँड़ सदृश लठैत व्यक्ति के रूप में मानते हैं। किवेस्ट के न्यूड बार ''द बुल'' के निचले कमरे में, जहाँ आपको कपड़ों के साथ भीतर जाने की इजाजत है, कोलारैडो से आए हुए एक युवक ने भी उस दिन ऐसी ही उग्र प्रतिक्रिया दी थी - ''हैमिंग्वे में क्या है, वे अत्यधिक आक्रामक, प्रकृति विरोधी और अहंकारी किस्म के व्यक्ति थे।''

हेमिंग्वे हाउस से नीचे उतरकर हम सभी अब एक बड़े-से बगीचे में आ पहुँचे थे। सुजाना ने इस क्षण डेव, एलेक्स व आना के साथ मेरी फोटो खींचने का अनुरोध किया। उन्होंने हेमिंग्वे के बगीचे में स्थित उनके निजी स्वीमिंग पूल के संबंध में एक रोचक जानकारी का खुलासा भी किया। इस स्वीमिंग पूल को उनकी पत्नी पालिन ने बहुत-सा धन खर्च करके बनवाया था। इस बार यह धन चूँकि खुद हेमिंग्वे की जेब से होकर खर्च हो रहा था, अतः इस मोटे खर्चे से अघाये हेमिंग्वे ने अपनी जेब में रखा अंतिम सिक्का जमीन पर फेंकते हुए पालिन से कहा था - ''लो, यह मेरा अंतिम सिक्का है, यह भी मैंने तुम्हें दिया।'' वास्तविक तथ्य तो यह है कि स्वीमिंग पूल के निर्माण का यह सारा खर्च पालिन ने ही अपनी ओर से वहन किया थ। हेमिंग्वे की जेब में रखा यह धन अप्रत्यक्ष रूप से पालिन का अपना धन था। पालिन ने फैंके गए इस सिक्के को वहीं जमीन में गड्ढ़ा बनवाकर इस घटना की जीवंत स्मृति के रूप में जड़वा दिया था।

स्वीमिंग पूल के निकट बने एक छोटे-से गड्ढे में शीशे के नीचे जड़े हुए इस सिक्के को मुझे सुजाना ने दिखाया।

हेमिंग्वे होम देखने आए पर्यटकों की भीड़ के बीच से निकलते हुए जब डेव ने हमसे विदा ली तो मैं अत्यंत उत्फुल्ल और संतुष्ट था। हेमिंग्वे के प्रति यह मेरे नए दृष्टिकोण की शुरुआत थी। किवेस्ट आकर हेमिंग्वे की रिहाइशगाह तथा उनके दैन्य-दिन क्रिया-कलापों के बारे में जानने के पश्चात् मैंने उनके प्रति एक सर्वथा नया एवं रोचक दृष्टिकोण हासिल किया। जीव-हत्या की घटनाओं तथा साँड़-युद्ध के कारण उनके प्रति पाठकों के एक वर्ग में पनपे नकारात्मक सोच के बावजूद हर बीते दशक के बाद आ उपस्थित होने वाले नए-नए विवादों के कारण हेमिंग्वे आज भी प्रासंगिक और चर्चित हैं।

धनाढ्य पत्नियाँ बनाने और कालांतर में उन्हें छोड़ देने की उनकी प्रवृत्ति के कारण महिलावादी विचारक हेमिंग्वे के प्रति नकारात्मक सोच रखते हैं। सुजाना के द्वारा हैमिंग्वे होम में खींची गई मेरी तस्वीरों ने मुझे किसी भी समालोचना ग्रंथ से अधिक उनकी रचनाओं को समझने की अंतर्दृष्टि दी। अपने निर्भय, साहसी, जोखिमपूर्ण एवं विवादास्पद चरित्र के कारण हेमिंग्वे हमेशा लोकप्रिय रहेंगे।

एच.बी.ओ. टीवी चैनल द्वारा दिखाए गए चलचित्र ''हेमिंग्वे एण्ड कलिहान'' में मैंने किवेस्ट के उनके घर को हाल ही में टीवी स्क्रीन पर एक बार फिर देखा। यह चलचित्र हेमिंग्वे की तीसरी पत्नी युद्ध संवाददाता मार्था कलिहान के साथ उनके रोमांस पर आधारित है। इस चलचित्र में एक आलोचक के साथ हेमिंग्वे द्वारा किए गए रोचक व्यवहार को भी दर्शाया गया है। आलोचक ने एक पत्रिका के लिए लिखी समीक्षा में हेमिंग्वे पर यह कहते हुए तीखी टिप्पणी की थी कि - ''अपने उपन्यासों में उन्होंने कृत्रिम पुरुषार्थ का चित्रण किया है और उनके सीने पर दिखाए जाने वाले बाल भी नकली हैं।''

टी.वी. पर प्रदर्शित चलचित्र में इस टिप्पणी से क्रुद्ध हेमिंग्वे एक खचाखच भरी हुई पार्टी के बीच उस आलोचक को मुक्का मारते हैं और अपनी कमीज को फाड़कर दिखाते हैं.....''आ! आ तो साहित्य समालोचक देख! मेरे सीने के ये बाल असली हैं या नकली..... आ देख!

(अंग्रेजी से अनुवाद -रामानंद राठी)

◆◆◆

गाँव और शहर
कितनी दूर कितने पास

- डॉ. सुरेन्द्र भास्कर
सहायक निदेशक, राजस्थान राज्य बाल अधिकार संरक्षण आयोग

नगरीकरण या शहरीकरण कोई नई अवधारणा नहीं है बल्कि भारत की प्राचीनतम सभ्यता से ही इसके साक्ष्य मिलना शुरू हो जाते हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में नगरों का अस्तित्व था। इसके पश्चात जनपद युग में तो वृहदाकार नगरों का प्रमाण मिलता है। वर्तमान में तो शहरीकरण विश्व के लगभग सभी देशों में विकास का प्रमुख पैमाना रहा हैं। मानव विकास के चरण में नगरीकरण का उदय तो स्वाभाविक है परन्तु उसके हिसाब से वहाँ सुविधाओं का होना भी जरूरी है। समयानुसार शहर में बसना मजबूरी की जगह फैशन बनता गया है। शहरीकरण की अंधाधुंध दौड़ में विकास पीछे छुटता गया है। फलस्वरूप आधारभूत संरचना का अभाव, गंदी बस्तियां, जीवनोपयोगी वस्तुओं की कमी से शहर एक प्रकार के साक्षात नारकीय जीवन बन गये।

भारत एक कृषि प्रधान देश है। हालांकि अब देश की जी.डी.पी. में कृषि की बजाय सेवा क्षेत्र का योगदान बहुत ज्यादा है, फिर भी यहां की विशाल जनसख्यां कृषि पर ही निर्भर है। इस कृषि निर्भरता को देखते हुए शुरू से ही अधिकांश लोग गांवों में बसते थे। अग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के दौरान पारम्परिक अर्थव्यवस्था के नष्ट हो जाने पर भारत में लोगों का गांवों की ओर पलायन देखा गया था। परन्तु उसी शासनकाल के अंतिम दिनों में नगरीकरण की सभ्यता का देश में आधिकारिक रूप से बीजारोपण हुआ। आजादी के समय महात्मा गांधी ने गांवों के विकास पर जोर दिया और शासन को जनता के हाथों में देने के लिए

विकेन्द्रीकरण की वकालत की। उनकी प्रेरणा पाकर उस समय के नीति निर्माताओं ने गावों के विकास पर जोर दिया। स्वतंत्रता के उपरान्त देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त् का पालन किया गया था। अतः हर नई योजना का केन्द्र बिन्दु ग्रामीण समुदाय था जिससे गांवों की स्थिति में सुधार आया। लोगों को लगा कि गांधी के सपनों के भारत की संकल्प ना साकार हो रही है। कालान्तर में अनेक कारणों से गांधी का यह स्वदेशी मॉडल पीछे छूटता गया और शहरों का विकास प्राथमिकता में आने लगा। भारत सरकार ने आज भी देश में बहुत सारी योजनायें ग्रामीण विकास के लिए चला रखी हैं परन्तु भ्रष्टाचार और स्थानीय लोगों की उदासीनता के कारण उनका समुचित लाभ देश को नहीं मिल पाया।

कहने को तो भारत गांवों में बसता है परन्तुन देश की जनगणना के आंकड़े कुछ और ही गवाही दे रहे हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल आबादी 121 करोड़ है। इसमें 83 करोड़ आबादी गांवों में रहती है और शेष 37.7 करोड़ आबादी शहरों में रहती है। इस प्रकार देश की 68 प्रतिशत आबादी गांवों में तथा 32 प्रतिशत आबादी शहरों में निवास करती है। ऐसा पहली बार हुआ है जब शहर की जनसंख्या में गांव की जनसंख्या से ज्याादा इजाफा हुआ है। इस दशक में लगभग 4 प्रतिशत लोग शहरों की तरफ पलायन कर गए हैं। इससे पिछले दशक में यह आंकड़ा लगभग पांच प्रतिशत था।

सत्तर और अस्सी के दशक के बाद से ग्रामीण भारतीय समाज का शहरों की ओर तीव्र पलायन हुआ। शहरीकरण की इस प्रक्रिया ने गाँवों को उजड़ी हुई सभ्यता का संस्करण बनाकर रख दिया। हालात ऐसे हो गये कि शहर इस दौर में गाँवों को प्रतिस्थापित कर राष्ट्रीय कल्पनाशीलता के केंद्र बन गये। नब्बे के दशक में भूमंडलीकरण की आहट से विकास के नये आयाम बनने लगे। विकसित देशों की नजर अपने देश के बाजार पर आ टिकी और निवेश के नये अवसर तलाशे गये।

सेवा क्षेत्र के विस्तार ने विकास के नये मापदंड स्थापित किये जिससे शहरों में हर वर्ग के लोगों के लिए रोजगार के नए अवसर आये। कुछ ही समय में यहां कार्य करने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति मजबूत हो गई जिसके फलस्वरूप

आजीविका और अस्तित्व की स्थितियों में गाँव और शहर के बीच बहुत बड़ा अंतर आ गया। सरकार द्वारा निजीकरण को प्रोत्साहन देने के कारण निजी क्षेत्र ने विशेष आर्थिक क्षेत्र और ठेके की खेती (लीज फार्मिंग) जैसे नये प्रयोग गांवों में भी शुरू कर दिये। इस प्रकार वैश्वीकरण ने गाँवों को अपनी गिरफ्त में लेकर ग्रामीण समाज की खेती के पारंपरिक रिश्तों पर आघात कर दिया। अब परम्परागत ग्रामीण भारतीय समाज भी आधुनिकीकरण से अछूता नहीं रहा। संचार साधनों में आई क्रांति ने हर आदमी को इससे जोड़ दिया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के फलस्वरूप आई पाश्चात्य संस्कृति ने गाँवों में अपनी दस्तक दे दी है जिससे गाँव अपनी पहचान खोते जा रहे हैं। वहाँ सहजता की जिंदगी को शहरी कृत्रिमता और दिखावे ने छीन लिया है।

निरन्तर बढ़ते नगरीकरण ने आर्थिक विषमता को जन्म दिया है। धन के बढ़ते प्रभाव ने सरलता, सादगी और सहजता के भाव को खत्म कर दिया है। उच्च आर्थिक विकास के आकर्षण बने शहर शीघ्र ही व्यक्ति को अकेलेपन का शिकार करने लग गये। नतीजतन घर में सामाजिक सहारा नहीं मिलने के कारण व्यक्ति उप–सभ्यता और मनोरंजन के बड़े केंद्रों के पास जाने लगा। इस प्रकार नितनये बने रिश्तों से समाज में अनैतिकता और अपराध ने अपने पांव जमा लिये। देखते ही देखते पुलिस और न्याय व्यवस्था की कमियों के कारण अपराध जगत में लिप्त–धन पिपासुओं और अर्थ पिशाचों की भीड़ बढ़ने लग गई।

सिद्धांततः देखा जाय तो नगरीकरण की प्रक्रिया बुरी नहीं है, लेकिन व्यावहारिक तौर पर यह संस्कृति अपराध, विषमता, विकृति और प्रदूषण की पोषक है। शहरों में जहां एक ओर आलीशान बंगले बने हुए हैं वहीं दूसरी ओर एक बहुत बड़ा भाग फुटपाथ, निर्माण स्थलों के पास खड़ी झुग्गी–झोपड़ियों तथा अन्य कामकाजी जगहों के समीप रहने को बाध्य है। किसी भी गणना में शामिल न होने के कारण ये लोग सरकारी योजनाओं के लाभों से भी वंचित हैं। इससे देश का दोहरा चरित्र उजागर होता है। कई बार लगता है कि आज का भारत शहरी संपन्नता और ग्रामीण गरीबी को एक साथ प्रस्तुत कर हमारी सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था को खुद ही चुनौती दे रहा है।

नगरीकरण के परिणामस्वरूप पेयजल तथा गंदगी के निष्कासन की समस्या आज विकराल रूप ले चुकी है, जिससे पर्यावरणीय असंतुलन का खतरा पैदा हो गया है। गरीबी और लाचारी का पारगमन होने के कारण शहरों की दुर्दशा बढ़ती जा रही है। शहर बढ़ती आबादी के दबाव को नहीं झेल पा रहे हैं और कुछ क्षेत्रों को छोड़कर असुविधा व अव्यवस्था की तस्वीर उभरने लगी है। शहरों की ओर बढ़े पलायन ने शहरों में गरीबी के आंकड़ों को गावों की तुलना में बढ़ाया है जिससे शहरों में रोजगार की कमी हो रही है।

शहरीकरण का गांवों में भी विपरीत प्रभाव पड़ा है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के कारण गाँवों के परंपरागत रोजगार और हुनर समाप्ति के कगार पर हैं। आधुनिकता की चमक से गांवों का सामाजिक और आर्थिक ढांचा चरमरा गया है।

बढ़ती आर्थिक विषमता के कारण संतोष और समृद्धि के प्रतीक ग्रामीण किसान आज उपेक्षा, शोषण, लाचारी और बेरोजगारी के शिकार हो गये हैं। बेवजह पलायन से बेकारी की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं इसलिए लोग रोजगार के लिए इधर–उधर भागने लगे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा भारत में शहरी क्षेत्रों में आवास की समस्या चिंताजनक है। नगरों में बढ़ती भीड़ से आसपास की कृषि भूमि रिहाइशी इलाकों में बदलती जा रही है। शहरीकरण और औद्योगीकरण के कारण भूमि अधिग्रहण तेजी से बढ़ रहा है। इससे ग्रामीण लोगों की कृषि योग्य ज़मीन का अधिग्रहण कौड़ियों के भाव किया जा रहा है। आशा है नये भूमि अधिग्रहण बिल से उन्हें उनकी जमीन की वास्ताविक कीमत मिलेगी।

नगरीकरण से आज भले ही ग्रामीण क्षेत्र की आधी से अधिक आबादी शहर की ओर पलायन कर चुकी है लेकिन इसका सकारात्मक असर भी गांवों में देखने को मिला है। सुदूर देहात कहलाने वाले कई गांवों में आधारभूत सेवाओं का संचार हुआ है। ऐसे गांव अपनी भारतीय परंपरा, संस्कार, अपनापन, आपसी सहभागिता को अक्षुण्ण रखते हुए नए साधनों और संसाधनों से लैस होकर छोटे नगर का रूप धारण कर चुके हैं।

विगत कुछ वर्षों से नगरीकरण की अवधारणा के विपरीत गांवों की ओर लोगों का रुझान बढ़ने लगा है। राजस्थान के शेखावाटी के क्षेत्र में तो खासतौर से अब शहर के अमीर वर्ग की सोच बदलने लगी है। ऐसे लोग शहर की भाग–दौड़ भरी जिंदगी से तंग आकर शहर से थोड़ी दूर ग्रामीण समुदाय के परिवेश में आकर बसने लगे हैं। भले ही नई पीढ़ी इसे फॉर्म हाउस शैली कहे परन्तु यह हकीकत है कि शुद्ध हवा–पानी की चाह उन्हें वापस प्रकृति की ओर धकेल रही है। पैसे से आदमी सब कुछ खरीद सकता है पर वातावरण पर उसका कोई नियंत्रण नहीं हो सकता है।

राष्ट्रीय स्तर पर बेहतर जीवन स्थितियों और रोजगार की तलाश में गांवों से निकलकर लोग शहरों की तरफ आ रहे हैं। लेकिन इस क्षेत्र में वस्तुस्थिति कुछ उलट है। शहरों का गावों की ओर इतना विस्तार हो गया है कि उनके मध्य की दूरी प्रायः समाप्त ही हो गई है। बिना किसी योजनाबद्ध तरीके से बसे यहां के शहरों की सड़कों की हालत दयनीय है। यहां के शहरों में कोई सरकारी संस्था न और उद्योग भी नहीं हैं कि लोग उनकी ओर खिंचे चले आयें। इस क्षेत्र के

छाया : वेदप्रकाश मीणा

लोगों ने सर्वाधिक रूप से सरकारी नौकरी में और अपनी स्वयं की मेहनत के बल पर यहां का विकास किया है।

पहले ग्रामीण लोगों का कृषि ही मुख्य रोजगार था। अब यहां कृषि व पशुपालन से संबंधित अन्य व्यवसायों का प्रसार हुआ है। डेयरी उद्योग ने गांवों की दशा ही बदल दी हैं। प्रधानमंत्री सड़क योजना के बाद से गांवों की हालात बदली है। लिंक सड़कों पर आवागमन के साधनों में बढ़ोत्तरी होने से गांव और शहर की दूरी कम होती प्रतीत हुई हैं। नौकरीपेशा वर्ग ने भी यातायात सुविधा का लाभ उठाते हुए घर से ही आना–जाना शुरू कर दिया है। कई नामी–गिरामी लोगों ने शहर से दूर गांवों में उन्नत शिक्षा केन्द्र खोल दिये हैं। इससे वहां बेहतर शिक्षा मिलने लगी है। अब इन शिक्षा केन्द्रों पर गांवों के बच्चों के अलावा शहर के छात्र भी बड़ी संख्या में आते हैं।

विश्व पटल पर नजर डालने पर पता चलता है कि जिन देशों ने पिछले कुछ दशकों में तेजी से विकास किया है उनमें तेज शहरीकरण का अहम योगदान रहा है। वहां के लोगों को मूलभूत सुविधायें भी प्राप्त हुई हैं। हमारे देश में स्थिति कुछ हटकर हैं। हमारे देश के विकास का मॉडल तो भारतीय अर्थात ग्रामीण है परन्तु उसे लागू करने वाली सारी मशीनरी शहरी है। उच्च दफ्तरों में बैठी नौकरशाही की बेरुखी और नेताओं के समाज से बढ़ते अलगाव की वजह से वास्तविक विकास धरातल पर नहीं आ पाया है। पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम के सपनों के प्रोजेक्टर 'पूरा' के जरिये गाँवों में भी शहरी सुविधाओं को लाना नितान्ती जरूरी है।

भारत की आत्मा गावों में ही बसती है। गांवों के विकास में ही पूरे देश का विकास सन्निहित है। पूर्व प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह के अनुसार 'शहरों का विकास गांवों के रास्ते ही होकर निकलता है।' अब समय आ गया है कि शहरों पर केन्द्रित विकास मॉडल को पुनः गांवों की ओर मोड़ा जाये। शहरों में दी जा रही सुविधाओं को अब गांवों में लाना होगा। इधर से उधर पलायन को रोकने के लिए आजीविका, शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली, सड़क, पानी जैसी बुनियादी सुविधाओं में अतिशीघ्र सुधार करना होगा। कृषि से दूर होते गावों में रोजगार की नई संभावनाओं का सृजन और आजीविका कौशल की जानकारी देना वर्तमान में पहली आवश्यकता हैं। साथ ही परंपरागत रोजगार और हुनर के साथ उन्नत तकनीकी में तालमेल बैठाते हुए हमें गाँवों में ही प्रसंस्करण आधारित उद्योग लगाने तथा स्वरोजगार के साधन मुहैया कराने का नया मॉडल विकसित करना होगा। सरकार को चाहिए कि अब शहरीकरण के बजाय आधुनिकीकरण, यंत्रीकरण तथा प्रौद्योगिकीरण पर अधिक बल दे। देश के समग्र विकास के लिए ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच की दूरी को पाटते हुए आर्थिक विषमता से आयी टकराव की स्थिति की जगह सहयोग को स्थापित करना होगा।

◆◆◆

हिन्दी सिनेमा में गुम होता गाँव

- नितिन यादव

सिनेमा इस जागतिक यथार्थ में मिथक, स्वप्न और कल्पना के माध्यम सेरंग भरकर एक समानांतर दुनिया का सृजन करता है । यह समानांतर दुनिया भले ही आभासी और काल्पनिक हो लेकिन दर्शक का इसमें यकीन दिलाने में ही इस विधा की सफलता टिकी हुई है। वास्तविक जिंदगी से उठाया गया एक टुकड़ा फिल्मकार के हाथों एक नई शक्ल अख्तियार कर दर्शकों के सामने होता है ।

सिनेमा का समाज से रिश्ता दोतरफा है। एक ओर सिनेमा समाज से विषय और संवेदना प्राप्त करता है तो दूसरी तरफ़ समाज को नए तरीके से सोचने में सहायता प्रदान करता है । अपने आरंभिक वर्षों में हिंदी सिनेमा पौराणिक और ऐतिहासिक कहानियों तथा पात्रों पर निर्भर था । 'राजा हरिश्चंद्र' से लेकर 'ताजमहल' तक अनेक फिल्में इन विषयों पर बनी । लेकिन इसी कालखंड की 'अछूत कन्या' सरीखी कुछ फिल्में अपनी विषय–वस्तु और प्रस्तुतीकरण से सिनेमाई माध्यम के लिए नए दरवाजे खोलती हैं । हालांकि सिनेमा का गणित विशुद्ध व्यापार पर टिका है, और यह कड़वी लेकिन सच्ची बात प्रेमचंद और अमृतलाल नागर जैसे साहित्यकार 1930 और 40 के दशक में ही जान चुके थे ।

आजादी की अलसभोर में नई आशा और सपनों की हवा से भारतीय फिल्म उद्योग भी अछूता नहीं रहा । 'दो बीघा जमीन' समेत अनेक फिल्में इस समय किसानों के जीवन और उनकी समस्याओं पर बनी। यह सिलसिला साठ के दशक तक चला जब 'तीसरी कसम' जैसी

व्यवसायिक रूप से असफल लेकिन कालजयी फिल्मों का निर्माण हुआ । सत्तर के दशक का एंग्री यंगमैन शहरों की झुग्गी–झोपड़ियों में रहता था। गांव का आदमी उसकी गरीबी और परेशानी के कारण खुद से उसको जोड़ता था । अस्सी के दशक तक फॉर्मूला और मसाला फिल्मों के किरदार भले ही शहरों के हों, लेकिन उनकी निम्नवर्गीय पृष्ठभूमि गांव–देहात के दर्शकों से उनको जोड़ती थी । 70 के दशक के अंत में समानांतर सिनेमा का आंदोलन शुरू हुआ। जिसमें मृणाल सेन, श्याम बेनेगल, केतन मेहता, गोविंद निलहानी जैसे निर्देशकों ने ग्रामीण और आदिवासी मुद्दों पर फिल्में बनाई। नब्बे के दशक का आरंभ भारत में वैश्वीकरण और उदारीकरण के साथ हुआ जिसका प्रभाव हिंदी सिनेमा पर भी पड़ा। हिंदी फिल्मों के पात्र एवं कहानियां अब अप्रवासी भारतीय और उच्च वर्ग को केंद्र में रखते हुए रचे गए। बाजारवाद ने जहां फिल्मों की पहुंच बढ़ा दी वहीं, दूसरी ओर फिल्म निर्माण को महंगा भी कर दिया ।

"दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे" जैसी फिल्मों की सफलता ने फिल्मों की कहानियों की दशा बदल दी। गांव के अलावा निम्न वर्ग के पात्र भी अब फिल्मों में दिखलाई देने बंद हो गए, हालांकि सी ग्रेड की मसाला फिल्मों में उनकी उपस्थिति बरकरार रही । इसी वजह से छोटे कस्बों और गांवों में इन फिल्मों ने अच्छा व्यापार किया। 'लगान' जैसी फिल्म जो माटी की सोंधी खुशबू लिए हुए थी, उसकी सफलता ने ग्रामीण कहानियों के लिए नई संभावनाओं के द्वार खोल दिए।

21वीं सदी के आरंभ में कम बजट की ऐसी फिल्मों का निर्माण आरंभ हुआ जिनकी कहानियों

और प्रस्तुतीकरण में नवीनता तथा ताजगी थी। अनुराग कश्यप, दिबाकर बैनर्जी, विशाल भारद्वाज जैसे निर्देशकों ने इस धारा को अपनी रचनात्मकता से मजबूती प्रदान की। इनके सिनेमाई संसार के ग्रामीण और कस्बाई पात्रों ने हिंदी सिनेमा को नए मुहावरे दिए। 2010 के बाद विषय केंद्रित और आत्मकथात्मक फिल्मों का दौर आरंभ हुआ जससे कस्बों की भाषा और जीवन हिंदी सिनेमा में दिखने लगा और 'मांझी' जैसी फिल्म बनी ।

कुछ दशकों से हिंदी सिनेमा में गांव लुप्त होता जा रहा है। कहानी, पात्र, भाषा और परिवेश के स्तर पर गांव की उपस्थिति नगण्य है। मल्टीप्लैक्स के इस युग में जहां 70 से 80 प्रतिशत आय मल्टीप्लैक्स से होती है, एकल खिड़की सिनेमाघर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। गांवों और कस्बों में आज भी 90 के दशक की मसाला फिल्में लोकप्रिय हैं। कारपोरेट घरानों का प्रवेश व मार्केटिंग के बढ़ते प्रभुत्व ने गांव की उपस्थिति को सीमित कर दिया है। गांव का यथार्थपरक चित्रण अब वहां दिखाई नहीं देता । गांव का सामाजिक ताना–बाना, वहां की भाषा और समस्याओं की पड़ताल अब गायब है। हिंदी फिल्म उद्योग हमेशा अच्छी कहानियों के अकाल की शिकायत करता रहता है, जबकि भारतीय लोक जीवन में अनंत कहानियां रची–बसी है। जिनकी ओर फिल्म निर्माताओं और निर्देशकों का ध्यान नहीं जाता।

क्षेत्रीय सिनेमा, जैसे भोजपुरी सिनेमा के उदय के पीछे भी यह महत्वपूर्ण कारक है। पंजाबी सिनेमा ने भी अपने आप को सशक्त किया है,जहां गांव की पृष्ठभूमि पर अनेक फिल्में बन रही हैं। गांव के दर्शक आज के सिनेमा की विषयवस्तु के साथ कनेक्ट न होने पर भी, उसे देखना चाहते हैं तो उसके पीछे कई कारण हैं । पहला कारण है अपनी जड़ों से कटना, दूसरा कारण है मनोवैज्ञानिक स्तर पर पाश्चात्य संस्कृति को अधिक महत्व देना तथा देशज संस्कृति को हीन समझना और तीसरा कारण है ग्रामीण विषयों पर बनी कम बजट की फिल्मों का मार्केटिंग में पिछड़ना। एक चौथा कारण है, इस तरह की फिल्मों के निर्माण में तकनीकी कौशल का अभाव।

ऐसा भी नहीं है कि पिछले वर्षों में हिंदी सिनेमा ने गांव या ग्रामीण पात्र बिल्कुल नहीं दिखाए हों, लेकिन उनमें से ज्यादातर में उनका चित्रण सतही तौर पर ही हुआ है। पिछले 20 –30 वर्षों में गांव की संरचना में काफी बदलाव हुए हैं लेकिन सिनेमा में वह कहीं नजर नहीं आता। इसका एक बड़ा कारण यह है कि फिल्मकार का परिचय ग्रामीण जीवन से नहीं है। गांव के मनोविज्ञान पर पकड़ रखने वाले फिल्मकार कम होते जा रहे हैं । गांव की समस्याओं का, गांव की भाषा का और गांव के जीवन का हिंदी सिनेमा में उपयोग नहीं हो पा रहा है।

हिंदी सिनेमा में गांव के सिकुड़ने से हिंदी पट्टी की सामूहिक चेतना के लोकतांत्रिक प्रस्तुतीकरण का संकट पैदा हो गया है। लोकगीत को भले ही बाजार के द्वारा नई पैकेजिंग में बेचा जा रहा हो और वह लोकप्रिय भी हो रहा है लेकिन लोककथाओं को सिनेमाई माध्यम का आज भी इंतजार है। फलतः भारत की बहुलतावादी संस्कृति तथा विषयों की विविधता का समुचित अंकन हिंदी सिनेमा में अनुपस्थित है। मिट्टी की खुशबू से परे एक चकाचौंध है । गजब यह है कि यह सब बाजार के नाम पर किया जा रहा है। लेकिन 'पीपली लाइव' जैसी फिल्मों की सफलता यह बताती है कि मामला बाजार का नहीं बल्कि ईमानदार कोशिश और सटीक मार्केटिंग का है।

◆◆◆

भारतीय सिनेमा पर एक संग्रहणीय पुस्तक

सिने पत्रकारिता

लेखक : श्याम माथुर

प्रकाशक :

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

मानक पुस्तक पढ़ें, खुद को गढ़ें!

प्राकृतिक असंतुलन का बेकाबू होता विकट दानव

श्रुती माथुर, एमिटी यूनीवर्सिटी, जयपुर
डॉ. राजेन्द्र कुमार, पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय धातुकर्म प्रयोगशाला, जमदेशपुर

पौराणिक कथाओं में देव और दानव एक ही परिवार के सौतेले भाई माने जाते हैं। दोनों के पिता ऋषी कश्यप थे पर मातायें अथवा जननी अलग–अलग थीं। देवों की माता अदिति थीं और दानवों की, दिति। मात्र एक अक्षर के अन्तर से स्वभाव में इतना बड़ा फर्क! ठीक वैसे ही जब केवल मात्रा हटने से शिव, शव में बदल जाता है।

विज्ञान यह मानता है कि मनुष्य में अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के वंशाणु रहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सृष्टिकर्ता ने धरती पर स्वर्ग और नरक बनाने की ज़िम्मेदारी खुद मनुष्य की बुद्धि या विवेक पर ही छोड़ दी है। पर 19वीं शताब्दी के बाद से उसके कार्यकलापों के दो पहलू या घटक सामने आए हैं जो एक दूसरे के पूरक हैं। यानी उसके कार्यकलापों में एक साथ दोनों विपरीत अंशों – सात्विक और तामसिक – का समावेश होता है। अपने विवेक से मनुष्य धरती को जहाँ स्वर्ग बनाने का प्रयत्न कर रहा है तो उसके साथ ही धरती पर नरक भी बन रहा है। कहीं धरती सुजला और सुफला बन रही है तो कहीं उजड़ भी रही है। चंद लोगों का जीवन धन–धान्य से

परिपूर्ण है तो कहीं मनुष्यों की बड़ी आबादी नरक जैसी यातनायें और भूख भी झेल रही है।

सात्विक बुद्धि से उसने विज्ञान और तकनीकी में महारथ हासिल की और सफलता के एक शिखर से दूसरे को छूते हुये मनुष्य व्योम की आकाशगंगाओं की घटनाओं को "देखने" लगा। चन्द्रमा पर उतरने के बाद अब वह मंगल ग्रह पर उतरने की तैयारी कर रहा है। उसने स्वास्थ पर बल देकर, मृत्यु दर कम करने में सफलता हासिल की। फलस्वरूप विश्व की आबादी में लगातार बढ़त होने लगी जो अब भी जारी है। कठमुल्ला धर्मगुरुओं ने अधिक संतानें पैदा करने का आह्वान कर, संसार को आबादी की अनियमित बढ़त की ओर धकेलने में कोई कसर नहीं छोड़ी। फलस्वरूप अधिकतर विकासशील देशों में आबादी इतनी बढ़ी कि समाज के कमज़ोर अशिक्षित वर्ग को स्वास्थवर्धक और भरपूर भोजन और पानी नहीं मिल पा रहा है।

बहुमुखी सफलता के उन्माद में मनुष्य को यह पता ही नहीं चला कि उसकी असावधानी या चूक से धरती के ऊपर और भीतर के पानी भंडारों का सत्यानाश होने लगा। उसके "दानवी" कारनामों से प्रकृति के स्वच्छ पानी के धाम सदा के लिये मिटने लगे।

इन अप्रिय घटनाओं के अनेक कारक या घटक हैं। मुख्य रूप से इनकी ज़िम्मेदारी उद्योगों के सिर मढ़ी जाती है; ख़ास तौर पर खनन पर आधारित उद्योगों (इस्पात, ताँबा, एल्युमिनिय, सीमेंट आदि और रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन)। इनके अलावा वृक्षों पर आधारित कागज़ उत्पादन, शहरीकरण और खेती के लिये अधिक भूमि उपलब्ध कराने के लिये वनों की कटाई, कांस व अन्य लम्बी जड़ों वाली घास के मैदानों का सफाया आदि ने भी विषम स्थिति को और गम्भीर बना दिया है। इस सब का नतीजा यह हुआ कि धरती के पानी के प्राकृतिक स्रोत सिकुड़ने लगे, नदियों के जलग्रहण क्षेत्रों का दायरा घटता गया और भूमिगत स्रोतों में पानी की आवक कम होती गई। कुछ नदियाँ तो बिल्कुल मिट गईं या मिटने की कगार पर पहुँच गईं।

पेट्रोलियम ईंधन की अनियमित खपत ने स्थिति को और बदतर करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इससे संसार वैश्विक उष्मीकरण की ओर अग्रसर होने लगा। पेट्रोलियम ईंधनों और ताप विद्युत उत्पादन को वैश्विक उष्मीकरण का मुख्य कारक माना जा रहा है। 19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति के पिछले 10,000 वर्षों में विश्व का औसत तापक्रम समान रहा; उस में कोई बढ़त नहीं देखी गई। उसके बाद से बढ़त बराबर जारी है। आरम्भ में बढ़त की दर कम थी मगर अब इसमें तेज़ी आ गई है।

मनुष्य के अपने इन कार्य–कलापों के कारण पृथ्वी के गर्भ में तीन "दैत्य भ्रूण" पलते अब दिखाई देने लगे हैं। इन दैत्य–सन्तानों का जन्म वर्ष 2025 से आरम्भ होता दिख रहा है और यह कि वर्ष 2050

आने तक वे मिल कर विश्व में ऐसी तबाही मचा सकते हैं जिससे विश्व की आधी निर्दोष आबादी मृत्यु का ग्रास बन सकती है। उस समय चहुँमुखी विनाश के कारण ऐसा हाहाकार मचेगा जिसकी तुलना केवल "प्रलय" से ही की जा सकेगी। यह तीन दैत्य हैं : (1) जनसंख्या में अप्रत्याशित वृद्धि, (2) पीने और सिंचाई के पानी की उपलब्धता में भयंकर कमी और (3) वैश्विक उष्मीकरण, जिसके कारण वर्षा न केवल अनियमित होगी बल्कि कहीं अचानक अतिवृष्टि होगी तो कही सूखा पड़ेगा। इनसे निबटने की तैयारी युद्ध स्तर पर हमको अभी से करनी होगी।

वैश्विक उष्मीकरण से उत्पन्न समस्याओं को तो सामाजिक स्तर पर सब को एक साथ झेलना पड़ेगा। यह समस्याये समाज के अकेले किसी वर्ग को विशेष रूप से न सता कर, सब को समान रूप से प्रभावित करेंगी। इनका सामना करने के लिये अनेक देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में समुचित उपाय करने प्रारंभ कर दिये हैं जिन सबका उद्देश्य विश्व के बढ़ते तापक्रम को घटाना है। यह समझ कर कि इसका मूल कारक ताप–विद्युत उत्पादन में उत्सर्जित और वायु मण्डल में प्रवेश करती गैस कार्बन डाइऑक्साइड है, सब देश मिल कर यह प्रयास कर रहे हैं कि बिजली का अधिक से अधिक उत्पादन सौर व पवन ऊर्जा से हो और ईंधन, पैट्रोलियम तथा कोयला के जलाने से विद्युत उत्पादन बन्द हो जाय। हर्ष का विषय है कि इस दिशा में हमारा देश अग्रणी देशों में है। किन्तु इस गैस का सब से अधिक उत्सर्जन करने वाला देश अमेरिका है। अभी कुछ दिन पहले अमेरिकी राष्ट्रपति ने तो उष्मीकरण की इन चिंताओं को कोरी बकवास कह कर नकार दिया है। वैसे हमारे अपने देश में तो सभी राज्य इस दिशा में प्रगतिशील हैं पर राजस्थान और गुजरात इसके सिरमौर हैं।

वैश्विक उष्मीकरण से दक्षिणी ध्रुव के अन्टार्टिका महाद्वीप की बरफ़ ने पिघलना शुरू कर दिया है जिससे समुद्र का स्तर ऊपर उठने लगा है। फलस्वरूप भारत के और मालदीव के कई छोटे टापू जलमग्न हो गये हैं। जब वायुमण्डल की कार्बन डाइऑक्साइड गैस समुद्र के पानी में घुलती है तब उसके पानी की क्षारीयता कम होने लगती है जिसका सब से बुरा असर कोरल रीफ्स पर पड़ता है। इस प्रक्रिया से कोरल रीफ्स (गेट बैरियर कोरल रीफ) का अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में, समुद्र पानी की क्षारीयता

कम होने का कुल असर समुद्र की पीरिस्थितिकी पर पड़ रहा है। यदि यही क्रम जारी रहा तो कोरल रीफ्स, छोटे–छोटे कोरल टापू तथा कई प्रकार की मछलियाँ सदा के लिये मिट जायेंगी।

बढ़ती आबादी और वैश्विक उष्मीकरण, इन दोनों का डंक मनुष्य को व्यक्तिगत और पारिवारिक स्तर पर सतायेगा। पीने के स्वच्छ पानी की भयंकर कमी इसका मुख्य कारण बनता प्रत्यक्ष दिख रहा है। अपने देश में कई बड़े शहर पानी की कमी से जूझ रहे हैं। दक्षिण अफ्रीका के केपटाउन में पीने का पानी अब बचा ही नहीं।

प्रकृति ने जितना नमकविहीन पानी मनुष्य जाति के भोग के लिये हजारों–लाखों वर्ष पहले निर्धारित किया था, आज भी वह उतनी ही मात्रा में उपलब्ध है पर इस बीच विश्व की जनसंख्या इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि पानी की प्रति मनुष्य/प्रति वर्ष उपलब्ध मात्रा घट कर इतनी कम हो गई है कि उसमें, विश्व स्तर के मानकों के अनुसार, स्वस्थ रूप से जीवित रहना असम्भव है। इसका सबसे बुरा असर आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर देश व कमजोर वर्ग पर पड़ता है। विकसित देशों ने तो अपनी आबादी पर नियंत्रण पा लिया है पर एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है क्योंकि इनकी आबादी विस्फोटक दर से बढ़ रही है। इनकी अधिकांश जनता को प्यास बुझाने व अन्य घरेलू काम–काज के लिये पर्याप्त मात्रा में पानी अभी भी नहीं मिलता। शहरों और अनेक गांवो में इसका प्रत्यक्ष नज़ारा कभी भी देखा जा सकता है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि दो मटकी पानी के लिये घंटों लगी लाइन में स्त्रियां अपनी बारी आने का इन्तज़ार करती हैं। भविष्य में यह संयम टूट कर, आपसी झगड़ों/मारपीट को जन्म दे सकता है।

कम पानी का असर, समाज की खाद्य सुरक्षा को भी कमज़ोर करता है क्योंकि आज कृषिकार्य सिंचाई आधारित है। विश्व स्तर के आंकड़े यह दिखाते हैं कि विश्व के कुपोषित तीन/चार बच्चो में से एक अपने देश का होता है। बिना भोजन के मनुष्य दस दिन जीवित रह सकता है पर बिना पानी के दो–तीन दिन में ही उसका प्राणांत हो जायेगा।

यह बात संज्ञान में ले कर कि चावल अनेक देशों के भोजन का मुख्य अंग है, अनेक शोध संस्थान, धान की ऐसी प्रजातियाँ विकसित कर रहे हैं जिनकी पौध दो सप्ताह तक बाढ़ के पानी में डूबे रहने के उपरान्त भी फिर से खड़ी हो जाती है या जो कम वर्षा होने पर भी नहीं मुरझाती।

केवल वैज्ञानिक शोध या समाजसेवी संस्थायें मनुष्य के सामने अस्तित्व की गंभीर चुनौती की भांति खड़े इन दैत्यों का सामना नहीं कर सकते। इस कार्य में समूचे समाज को अपनी निजी भागीदारी समझनी होगी और अपना सकरात्मक सहयोग देना होगा। मनुष्य को अपनी स्वछन्दता छोड़ कर, अपने को प्रकृति की नीयत के अनुकूल ढाल कर भूमि की प्राकृतिक स्थलाकृति से छेड़–छाड़ बन्द करनी होगी।

जब वर्षा और भू–सतह के जलाशयों से काम न चला और मनुष्य को भूमिगत पानी के जल–स्रोतों का पता चला, तो आनन–फानन में उसने उनका दोहन शुरू कर दिया। यहाँ तक कि अतिशुष्क, मरुस्थलीय सऊदी–अरब में 20,000 हज़ार वर्ष पहले भूमि के भीतर 10,000 मीटर से अधिक गहराई पर जमा हुये भूमिगत पानी को शक्तिशाली बोर पम्पों की सहायता से निकाल कर सिंचाई के सहारे बड़े स्तर पर गेहूँ की खेती वर्ष 2000 के लगभग आरम्भ कर दी गई और वह मात्र 15–20 वर्षों के अन्तराल में ही विश्व का छठा सब से बड़ा गेहूँ निर्यातक देश बन गया। किंतु यह हरकत नियति के विरुद्ध थी। इससे उसका भूमिगत जल–भण्डार पूरी तरह से निचुड़ गया और सरकारी आदेशों पर गेहूँ की खेती बन्द हो गई। इतने अल्प काल में ही भूमिगत जल दोहन के फलस्वरूप, मरुभूमि के अनेक नखलिस्तान नष्ट हो गये जिनके पानी के बल पर स्थानीय आदिवासी समुदायों की जीवन–शैली चलती थी और पशु–पक्षी जीवित रहते थे। संक्षेप में युगान्तर से चलता आ रहा स्थानीय पारिस्थितिकी सन्तुलन बिगड़ गया।

तकनालॉजी द्वारा, प्रकृति की नियति के विरुद्ध जाने वाले देशों में सऊदी अरब अकेला नहीं है। अगर कुछ नाम लें तो अमेरिका का कैलिफोर्निया राज्य और लीबिया प्रमुख रूप से उभर कर सामने आते हैं। हमारा देश भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं हैं। पर हमारे देश में भूमि के भीतर के जल–भंडारों को वर्षा जल दुबारा भरता रहता है। कैलिफोर्निया के भूमिगत जल–भंडारों का भी नवीकरण होता रहता है और इसी के बल पर वहाँ पिछले सौ वर्षों से अधिक चावल का उत्पादन होता आ रहा है। यह बात ध्यान में रखने की है कि कैलिफोर्निया में आधुनिक तकनीक के सहारे वर्षा के पूरे पानी से भूमिगत भंडारों का भरण–पोषण होता रहता है। पर सऊदी अरब में पुनर्भरण की कोई सम्भावना नहीं है।

अपने देश में महाराष्ट्र राज्य में जगह–जगह नदियों के मार्ग में बाँध बना कर सर्वाधिक जलाशय बनाये गये हैं। गत दो–तीन वर्षों की लगातार कमज़ोर मानसून के कारण यह जलाशय भी शुष्कप्रायः पड़े हैं। विषम परिस्थितियों से जूझ रहे किसान आत्महत्या कर रहे हैं। पर क्या कमज़ोर वर्षा ही इसका मूल कारण है? नहीं! शीघ्र धन कमाने के लालच में मराठवाड़ा के कम वर्षा के क्षेत्रों में भूमिगत जल के बल पर किसानों को अधिक पानी खाऊ गन्ने की फ़सल उगाने कि लिये प्रोत्साहित किया गया था ताकि प्रदेश में लगाई गई चीनी मिलें चलती रहें। समृद्धजनो ने अति शक्तिशाली पम्प लगा कर इतना अधिक पानी

ऊपर खींच लिया कि क्षेत्र का भूमिगत जलस्तर इतना नीचे गिर गया कि वहाँ अब पीने के पानी के भी लाले पड़ने लगे हैं। प्राकृतिक साधनों का इस से बड़ा दुरुपयोग और क्या हो सकता था?

सह्याद्रि पर्वत श्रंखला को भूमिजल स्रोतों के पुनः भण्डारण के दृष्टिकोण से कामधेनु समझा जाता है। विकास के नाम पर, मनुष्य की गतिविधियों ने, जंगल समेत **सह्याद्रि** की स्थलाकृति को समूल नष्ट करना शुरू कर दिया है। पहले जो वर्षा–पानी तुरन्त भूमि में अन्तःसरित हो कर, भूमिगत स्रोतों का पुनःभण्डारण करता था, वह व्यर्थ बहकर जाने लगा। इस कारण जगह–जगह पर, कम वर्षा में भी, अचानक और अकारण बाढ़ आने लगी। कुछ माह पूर्व केरल की भयावह प्रलयसमान बाढ़ इस तथ्य का जीता–जागता प्रमाण है। स्थिति सुधारने के लिये, नये सिरे से समीक्षा करनी होगी।

फिर उत्तर भारत भी क्यों पीछे रहने वाला था? यहाँ चम्बल नदी पर कई सिलसिलेवार बाँध बने और शुष्क राजस्थान में उत्तम क्वालिटी के धान की खेती शुरू हो गई! यह किस हद तक न्यायोचित है, इसका निर्णय हम अपने पाठकों के विवेक पर छोड़ना चाहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम पानी की प्रत्येक बूँद का ऐसा तर्कसंगत उपभोग करे कि कम पानी से अधिकाधिक अन्न उत्पादन हो ताकि प्यास और भूख से कोई भारतवासी आहत न हो। इस दिशा में इजराइल देश का अनुकरणीय उदाहरण हमारे सामने है। उसने ऐसे कृषि और बाग़बानी पदार्थों के उत्पादन पर बल दिया जिनमें पानी की आवश्यकता कम है ताकि उपलब्ध पानी से अधिक से अधिक उपज का लाभ लिया जा सके। साथ ही साथ वहाँ नई–नई अधिक पैदावार देने वाली प्रजातियाँ भी विकसित की गई।

संदर्भः

1. धरती पर पानी, डा. राजेन्द्र कुमार व डा. श्रुती माथुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

◆◆◆

जल की एक–एक बूंद महत्वपूर्ण है –

इसे भरसक बचायें!

उपभोक्तावादी संस्कृति का अभिशाप

- डॉ. सुषमा पाण्डेय
सह आचार्य, राजनीति विज्ञान, राजकीय महाविद्यालय, टोंक

कल्चर (संस्कृति) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अंग्रेजी में स्पेगलर द्वारा किया गया। तत्पश्चात् बेकन एवम् इमर्सन ने 1837 में इस शब्द को नवशक्ति प्रदान की।[1] रॉल्फ पिडिंगटन के अनुसार, 'संस्कृति उन भौतिक एवम् बौद्धिक साधनों एवम् उपकरणों का संपूर्ण जोड़ है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी सामाजिक एवम् प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।[2]

वर्तमान संस्कृति उपभोक्तावादी संस्कृति है जहाँ न मानवीयता की पूछ है और न ही संवेदनशीलता का कोई स्थान। उपभोक्ता संस्कृति से तात्पर्य ऐसी संस्कृति से है जिसने असीमित वस्तुओं का संग्रहण करने वाले उपभोक्ताओं को जन्म दिया हैं एवं जो अपने अधिकारों के लिये संघर्षरत रहते हैं। यह एक ऐसी संस्कृति है जिसके जन्मदाता पूँजीवाद, बाजारवाद और उदारवादी सभ्यता से ग्रस्त हैं। सत्य यह है कि उपभोक्ता संस्कृति को पूँजीवाद ने जन्म दिया और पूँजीवाद ने बाजारवादी शैली को। बाजार के बिना उपभोक्ता कार्यरत नहीं रह सकते। अतः उपभोक्ता एवं पूँजीवाद एक-दूसरे के पूरक हैं। पूँजीवाद अपने असीमित स्वतंत्र स्वरूप में उदारवादी बनकर उपभोक्ता संस्कृति के सहयोगी एवं संरक्षक हैं।

आधुनिक पूँजीवादी संस्कृति से उत्पन्न उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है जिसमें जीवन का अर्थ सुखों की खोज अथवा भौतिकवादी साधनों की लिप्तता है। पूँजीवादी के विकास ने उपभोक्ता को एक सुखी जीवन अवश्य प्रदान किया हो किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अनंत सुख जीवन मूल्यों के प्रति सहानुभूति रखने में है या समानुभूति के अहसास में। अथवा मात्र भौतिकवादी यंत्रों के संग्रह में है।

पूँजीवाद ने व्यक्ति को खर्च करने का साधन बना दिया है। आज एक व्यक्ति अपनी सीमाओं का विस्तार अपनी क्रय शक्ति द्वारा दर्शाता है यही उपभोक्ता संस्कृति है। पूँजीवाद की ताकत चूँकि उपभोक्ता संस्कृति के बिना अधूरी है अतः राजनैतिक, सामाजिक एवम् आर्थिक व्यवस्थायें अपने संरचनात्मक स्वरूप को सुदृढ़ एवं सशक्त करने हेतु इंटरनेट, कम्प्यूटर, पिक्चर आदि साधनों का प्रयोग कर व्यक्ति को दिग्भ्रमित करती है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् साम्यवाद व समाजवादी व्यवस्था के शनैः-शनैः विलोपन के बाद पूँजीवाद ने जिस प्रकार अर्थव्यवस्थाओं में आधिपत्य स्थापित करना आरम्भ कर दिया उससे 'धन' को शीर्ष स्थान प्राप्त हो गया तथा लाभ कमाना अर्थव्यवस्था का मुख्य तत्व बन गया और समाजकल्याण गौण हो गया। आज आधुनिक उपभोक्ता संस्कृति के चालक जीवन के आनंद तथा भौतिक साधनों की चमक-दमक को ही अपना जीवन मानने लगे हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इतन असहय एवं पंगु कैसे बन गय? मानवीय जीवन इतना निरीह क्यों हो गया? क्या एक सुविधासम्पन्न भौतिक जीवन ही व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य है? **मूल्यात्मक जीवन के अंत की पराकाष्ठा ने मनुष्य में सुमूल्यों के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया है। वह विज्ञान के चमत्कारों में विश्वास दर्शाता है किन्तु जीवन के शाश्वत, सनातन मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थाहीन है।** विचारणीय प्रश्न है कि पूँजीवाद, बाजारवाद की राह पर चलकर व्यक्ति अपने जीवन को बर्बाद करेगा अथवा मूल्यात्मक जीवन की राह को अपनायेगा।

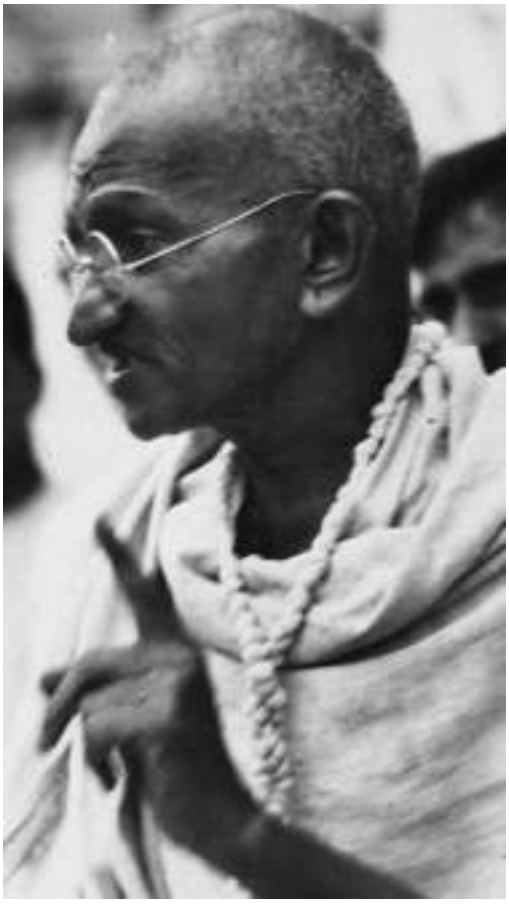

1991 के बाद जब से हमने आर्थिक उदारवाद, भूमंडलीकरण व उदारवादी नीति को अपनया तभी से मानवीय मूल्यों, स्वराज, स्वदेशी, स्वधर्म, स्वभाषा अर्थात् संस्कृति के समस्त पहलुओं पर ही प्रश्न चिन्ह अंकित हो गया। विकासशील राष्ट्र अपनी वास्तविक अस्मिता को बनाने की बजाय कृत्रिम साधनों के पराधीन हो गये हैं। स्वसंस्कृति से विमुख होकर पाश्चात्य संस्कृति के अनेक पहलुओं का समर्थन करने लगे हैं। **पूँजीवाद में पल्लवित इस उपभोक्ता संस्कृति ने हमारे जीवन मूल्यों, मानवीय मूल्यों एवं मानवीय संस्कृति के समक्ष संकट उत्पन्न कर दिया है। इसका मुख्य लक्ष्य आत्मा से अधिक काया की प्रतिष्ठा हेतु सर्वस्व का समर्पण करना है।** आज

आधुनिक उपभोक्ता असहाय है तथा भौतिक, तकनीकी, हिंसक साधनों का उपयोग एक चलन बन चुका है। अत्याधुनिक साधनों एवं वस्तुओं के उपभोग से छोटे बच्चों में हिंसा, अश्लीलता, उदण्डता, कुसंस्कार, शिक्षा के प्रति अरुचि, सामाजिक मर्यादओं का तिरस्कार करने जैसी भावनायें घर कर रही हैं। सत्य यह है कि किसी भी राष्ट्र का विकास उसकी संस्कृति के धरोहर मूल्यों की आधारशिला पर ही अवस्थित रहता है किन्तु आधुनिक उपभोक्ता पाश्चात्य संस्कृति की दासता ग्रहण कर मानवीय मूल्यों पर स्वयं कुठाराघात कर रहा है। तकनीकी एवम् बाजारवादी व्यवस्था को अपनाकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्ता को आघात पहुँचा रह है। उदारीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी मनोवैज्ञानिक शैली से तैयार विज्ञापन दृश्यों द्वारा मनुष्यों को दिग्भ्रमित कर संपूर्ण विश्व में अपने उत्पाद विक्रय कर स्वदेशी उत्पादों को आहत कर रही हैं।

21वीं सदी में आधुनिक उपभोक्ताओं ने प्रतिस्पर्धा को अपना जीवन मूल्य बनाकर उन्हें बाजारों का मूल मंत्र बन दिया है। आदर्शवादी, मानवीय मूल्य आधारित अतीत की आत्मगौरवपूर्ण संस्कृति विलुप्त हो चुकी है। उपभोक्ता इस युग में अपने हितों और अधिकारों के प्रति जागरूक होकर आर्थिक उदारीकरण, वैश्वीकरण का सामना करने हेतु तत्पर दिखाई पड़ता है। यहाँ कहा जा सकता है कि जब तक आधुनिक उपभोक्ता विशुद्ध उपभोक्तावादी मूल्यों का उपभोग करेगा तब तक वह आध्यात्मिकता, आत्मचिंतन, शांति, आनंद, सामाजिक सुव्यवस्था स्थापित कर मन की सुखद अनुभूति से अनभिज्ञ रहेगा। आज संपत्ति, भौतिकता और उपयोगिता पर अधिक जोर देने की बजाय मानवीय मूल्यों और स्वसंस्कृति की धरोहर को सहेजने की समग्र दृष्टि अपनाना मनुष्य की प्राथमिकता है। आज आवश्यकता है आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति के विकल्प रूप में गांधीवादी संस्कृति को अपनाने की। गांधी दर्शन में व्यक्ति का गरिमामय स्थान सांस्कृतिक सम्पन्नता के आधार पर निर्धारित होता है। गांधी का दर्शन संस्कृति के मूल्यात्मक पराभव को एवम् व्यक्ति के दास रूप को राष्ट्रीय तथा अंतराष्ट्रीय समाज में आच्छादित नहीं होने देना चाहता बल्कि व्यक्ति निर्णय को प्रोत्साहन देकर समस्या का समाधान चाहता है।

संदर्भ :

1. डॉ. रामजी सिंह, गांधी दर्शन में मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, दिसम्बर 1973, भाग-4, पृ.29 व 118
2. रॉल्फ पिडिंगटन, एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपोलॉजी, 1952, पृ.3 व 4

◆◆◆

विमर्श

शिक्षा और संस्कृति के अन्तर्सम्बंध

- राजाराम भादू
- कार्यकारी निदेशक, समांतर संस्थान, जयपुर

इस संक्षिप्त आलेख में हम शिक्षा और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्ध को समझने की कोशिश कर रहे हैं। शुरू में शिक्षा की प्रकृति और प्रक्रिया पर विचार करेंगे। उसके बाद संस्कृति के परिघटनात्मक स्वरूप को समझने का प्रयास होगा। आखिर में शिक्षा और संस्कृति के पारस्परिक अन्तःक्रियात्मक सम्बन्धों को जानने की कोशिश होगी।

शिक्षा को लेकर कुछ अवधारणाएं सार्वजनीन हैं। साथ ही अनेक अवधारणाएं और मान्यताएं वैयक्तिक आदर्शों से उद्भूत हैं। शिक्षा को एक सार्वजनीन अवधारणा के अनुसार सीखने–सिखाने की प्रक्रिया माना जाता है। एक अन्य अवधारणा के अनुसार शिक्षा एक व्यक्ति में ज्ञान का प्रवर्तन है। ज्ञान समाज में पहले से मौजूद होता है। इन दोनों ही अवधारणओं के अनुसार यह प्रक्रिया अथवा प्रर्वतन नैसर्गिक नहीं है, जैसे– पक्षी के शिशु अंततः उड़ना सीख ही जाते हैं या जंगली जीवों के शावक शिकार करना जानते हैं। शिक्षा सीखने की प्रक्रिया के रूप में सायास चेष्टा है और जो किसी अन्य व्यक्ति के मार्गदर्शन में आरंभ होती है। निश्चय ही, व्यक्ति में सीखने की प्रवृत्ति एक हद तक नैसर्गिक होती है किन्तु बहुत अधिक स्वतः स्फूर्त नहीं।

यह सही कहा जाता है कि व्यक्ति का सीखना जन्म के साथ शुरू हो जाता है और यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है। मनुष्य के सीखने में उसे अन्य प्राणियों की तुलना में दूसरों पर अधिक निर्भर रहना होता है। सीखने के इस क्रम को समझने–समझाने के लिहाज से कुछ खास चरणों में विभाजित कर लिया गया है। पहला चरण बच्चे का समाजीकरण है जिसमें उसका लालन–पालन होता है, उसे दैनिक आचरण और परिवार व निकट परिवेश से रिश्तों का संज्ञान कराया जाता है। अगला चरण आधुनिक सभ्यता के साथ स्कूली शिक्षा (schooling) के रूप में विकसित हुआ है। इस चरण में बच्चा ज्ञान अर्जन के लिए कुछ आवश्यक क्षमताएं और कौशल सीखता है। इसके बाद उसकी आजीविका से जुड़ी व्यावसायिक शिक्षा का चरण शुरू होता है जहां सीखने की प्रकृति कुछ बदल जाती है।

हमारा विमर्श यहां स्कूली शिक्षा के दायरे तक सीमित है। निश्चय ही इसकी बच्चे के विकास में निर्णायक भूमिका है और इसे सीखने की बुनियाद माना जाता है। एक और सार्वजनीन अवधारणा के अनुसार हर बच्चे में कुछ अन्तनिहित क्षमताएं होती हैं जिन्ह शैक्षिक उपक्रम उभारता है और बच्चा सीखने में सक्षम होता चला जाता है। अपनी तार्किक परिणति में शिक्षा का अंतिम लक्ष्य बच्चे को स्वतंत्र अध्येता बनाना है। बच्चा सक्षमता की एक ऐसी स्थिति अर्जित कर ले कि बिना किसी की वैयक्तिक सहायता के उपलब्ध संसाधनों से वह अपने सीखने की प्रक्रिया को अनवरत् जारी रख सके।

वर्तमान में प्रचलित आधुनिक शिक्षा का स्वरूप पश्चिम, विशेषकर यूरोपीय देशों में विकसित हुआ था। औद्यौगिक क्रांति की फलश्रुति के रूप में वजूद में आयी स्कूल–प्रणाली का शुरुआती मंतव्य शायद इतना आदर्शीकृत नहीं था। भारत जैसे विकासशील देशों के लिए स्कूल प्रणाली का संदर्भ भिन्न होना स्वाभाविक है, जहां व्यापक समाज अभी मौखिक परंपरा में रहता आया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यहां स्कूलिंग का कोई रूप विद्यमान नहीं था। अपनी ही तरह की आश्रम या गुरुकुल प्रणाली यहां थी जो बहुत सीमित बच्चों को सम्बोधित थी। वहां भी सीखने–सिखाने की अधिकतर प्रक्रियाएं श्रुति–स्मरण पद्धति पर आधारित थीं।

यह संदर्भ हम इसलिए प्रस्तुत करना चाहते हैं ताकि भारतीय जमीनी यथार्थ के साथ आधुनिक शिक्षा के प्रसंग को ठीक से समझ सकें। बच्चे के स्वतंत्र शिक्षार्थी बनने के जिस लक्ष्य की हमने बात की, वह बच्चे में विभिन्न अवधारणाओं के सहसम्बन्ध पर आधारित समझ के जरिये अर्जित होता है। यह समझ लिखित परंपरा और मौखिक परंपरा की पृष्ठभूमि में भिन्न तरह विकसित हो सकती है। हमारे यहां साक्षरता के पर्याप्त विकास के बावजूद मौखिक परंपरा की रीढ़ रही श्रुति–स्मरण पद्धति काफी हद तक एक जीवंत अवशेष रूप में विद्यमान है जो समझ के स्वरूप को गुणात्मक रूप से प्रभावित करती है।

स्कूली शिक्षा में सीखने की आरंभिक क्षमताएं भी विषय शिक्षण के माध्यम से ही विकसित की जाती हैं। भाषा शिक्षण एक क्षमता के साथ विषय

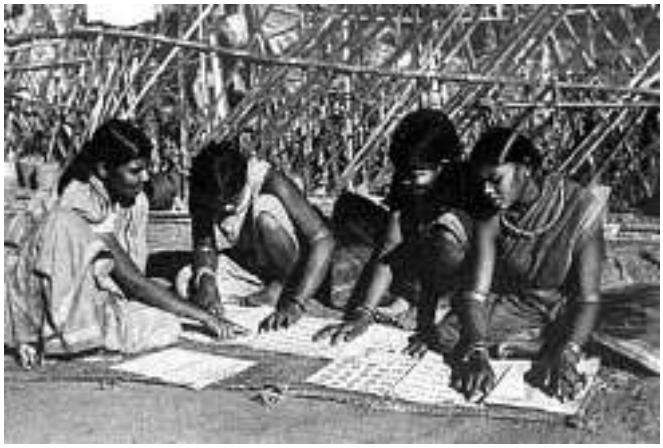

वस्तु भी है। गणित और पर्यावरण शिक्षा के साथ भी कमावेश यही बात है। स्कूल के साथ यह आदर्श जुड़ा है कि यह बच्चे का सर्वांगीण विकास करे। इस सर्वागीण विकास के वस्तुतः क्या मायने हैं? शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से इसके निहितार्थ होंगे कि स्कूल बच्चे के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास को प्रतिश्रुत हो। इसमें व्यक्तित्व का संज्ञानात्मक और भावात्मक पक्ष शामिल है। एक ओर यदि बच्चा ज्ञान से सम्बद्ध विषय क्षेत्रों में गति हासिल करे, दूसरी ओर उसमें आत्मविश्वास, पहल, प्रश्नाकुलता, सहयोग और नेतृत्व जैसे वैयक्तिक गुण भी विकसित हों। स्कूल ऐसे गुणों के लिए सहवर्ती प्रक्रियाएं सुनिश्चित करता है।

हमारे यहां ही नहीं बल्कि पश्चिम में भी पारंपरिक शिक्षण प्रणाली की आलोचना यह कहकर की जाती है कि यह मतारोपण (indoctri nation) करती है। अर्थात सीखने वालों पर सिखाने वाला पक्ष अपने मत का आरोपण करता रहा है। ऐसा नहीं है कि आधुनिक स्कूल प्रणाली इस आरोप से पूरी तरह मुक्त हो गयी हो। यह प्रवृत्ति अभी भी सैकड़ों स्कूलों में विद्यमान है। मतारोपण की संभावना धार्मिक संगठनों द्वारा संचालित स्कूलों के मामले में ज्यादा जतायी जाती है। कुछ ऐसी ही संभावना वहां ज्यादा रहती है जहां श्रुति–स्मृति पद्धति हाल तक प्रचलित रही है। प्रायः स्कूली शिक्षा में मतारोपण को पारंपरिक शिक्षा प्रणाली का अवशेष माना जाता है। किन्तु ऐसी भी राय हैं कि मतारोपण का ताल्लुक शिक्षक की सोच से ज्यादा है।

आधुनिक स्कूल प्रणाली की आलोचना में कहा जाता है कि यह बच्चों का अनुकूलन (conditioning) करती है। एक समय यह बच्चों को औद्योगिक समाज के अनुकूल बनाने का उपक्रम करती थी तो तदनन्तर राज्य के मंतव्यों के अनुसार एक अनुकूलित पीढ़ी तैयार करने का काम करती रही है।

आधुनिक स्कूली शिक्षा क्रमशः पाठ्यपुस्तकों, पाठ्यक्रम, शिक्षाक्रम, शिक्षण पद्धति, और शिक्षा दर्शन की सैद्धांतिक संरचना पर व्यवस्थित रूप से आधारित रही है, यद्यपि पारंपरिक शिक्षण में भी ये चीजें किसी न किसी रूप में अस्तित्वमान रही हैं। मतारोपण और अनुकूलन के संदर्भ में स्कूल में एक प्रच्छन्न पाठ्यक्रम (hidden curriculum) भी प्रभावी रहता आया है। हमें देखना होगा कि आखिरकार इसका क्या फर्क पड़ता है? बच्चा इन प्रक्रियाओं से गुजर कर भी अपने आप सीखने वाला तो बन जाता है लेकिन सही मायने में वह 'स्वतंत्र' नहीं होता। वह चीजों को उन्हीं ढांचों या नजरियों मे देखता है जिसमें देखने व सोचने के लिए वह खास तौर से दीक्षित हुआ है। इसकी अपनी गंभीर सीमाएं हैं।

बीसवीं शताब्दी में लोकतंत्र के उभार ने शिक्षा के दर्शन को सर्वाधिक प्रभावित किया। असल में शिक्षा की पारंपरिक व्यवस्था और आधुनिक स्कूल प्रणाली की पूर्वोक्त आलोचना भी लोकतांत्रिक संदर्भ से ही उभरी है। अपने आदर्श मे लोकतंत्र प्रत्येक नागरिक की सक्रिय हिस्सेदारी पर निर्भर करता है। यह एक ऐसी शासन–प्रणाली है जहां प्रत्येक व्यक्ति से प्रतिनिधित्व, सहभागिता और अपने विचारों की अभिव्यक्ति की प्रत्याशा की जाती है। लोकतंत्र की इस फलश्रुति ने शिक्षा से भी

अपेक्षाएं बढ़ायी है। अब शिक्षा का लक्ष्य एक स्वतंत्रचेता व्यक्ति का निर्माण हुआ जो शासन प्रणाली की समस्त प्रक्रियाओं को अलोचनात्मक दृष्टि से देख सके और अपनी भूमिका को लेकर तार्किक निर्णय ले सके। जाहिर है कि इस संदर्भ के चलते सीखने–सिखाने की एक अहम् संस्था के रूप में स्कूल की भूमिका में भी गुणात्मक बदलाव आया।

संस्कृति एक जटिल और गत्यात्मक परिघटना है। इसे प्रायः इतने व्यापक फलक में देखा जाता है कि जन्म से मृत्यु तक का मनुष्यकृत परिवेश इसमें समाहित हो जाता है। अतः संवाद की सुविधा के लिए यहां भी हम संस्कृति–विषयक सामान्य अवधारणाओं का सहारा लेंगे। सामान्यतः सामाजिक नियम, मूल्य–मान्यताएं, रीति–रिवाज, ज्ञान–धाराएं और कलाएं संस्कृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसकी जटिलता इस अर्थ में भी है कि दृश्यमान के साथ अदृष्ट चीजें भी इसमें शामिल हैं। यदि कोई बड़ा धार्मिक अनुष्ठान इसका हिस्सा है तो व्यक्ति की आभ्यंतर दुनिया की हलचलें भी इसी का भाग हैं। इसके चलते लैंगिक और जाति–आग्रह, विद्वेष और अस्मिता जैसे जटिल मामले संस्कृति की परिधि में हैं जो हमारे सोच और दृष्टिकोण में विद्यामान होते हैं। ये प्रायः अदृश्य रहते हैं और अक्सर हमारे व्यवहार में ही परिघटित होते हैं।

संस्कृति मनुष्य के प्रकृति के साथ द्वन्द्व और सहमेल से विकसित हुई है। प्रत्येक व्यक्ति को इसका कुछ हिस्सा प्रदत्त रूप में हासिल होता है तो बाकी उसे अर्जित करना होता है। हम यहां उसके ठोस रूप – सभ्यता – की बजाय संश्लिष्ट रूप पर ध्यान देना चाहेंगे जो कि शिक्षा से कहीं ज्यादा ताल्लुक रखता है। कालक्रम के अनुसार संस्कृति के कुछ ऐसे घटक (component) निर्मित होते गये हैं जो इसकी निर्मिति और हस्तान्तरण में बराबर की भूमिका निभाते हैं। इनमें क्रमशः धर्म, शिक्षा, मीडिया और सृजनात्मक कलाएं चार बड़े घटक गिनाये जा सकते हैं। पांचवाँ घटक ऐसा है जो इन चारों में भी विद्यमान है और अलग से एक स्वतंत्र घटक भी है, और यह है– भाषा। जहां इन चार घटकों में भाषा एक माध्यम है, वहीं एक स्वतंत्र घटक के रूप में भाषा की अपनी अहमियत है। इस तरह हम देख सकते हैं कि अंततः शिक्षा संस्कृति के (universe) परिक्षेत्र यानी यूनीवर्स के अन्तर्गत ही आती है।

संस्कृति में सार्वजनीन स्तर पर कुछ सामान्यताएं हैं लेकिन इसी के साथ यह समुदाय–सापेक्ष होती है। संस्कृति समुदाय की ही होती है, उसके बिना इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। समुदाय की सापेक्षता में इसकी अपनी विशिष्टताएं होती हैं। समुदाय भी कुछ सार्वजनीन सामान्यताओं के बावजूद अपनी निजता रखते हैं। वे प्रायः एकरूप नहीं होते। संस्कृति से समुदाय का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होता है–समुदाय अपनी संस्कृति का संवाहक और सर्जक होता है तो संस्कृति भी इस समुदाय को रचती है। हम भिन्न–भिन्न प्रसंगों व संदर्भों में संस्कृति को व्यापक से सूक्ष्म स्तर पर और इसके उलट सामान्यीकृत और विशेषीकृत करते रहते हैं। उदाहरण के लिए हम उत्तर–पूर्व भारत की संस्कृति की बात करते हैं तो यह एक व्यापक सामान्यताओं वाला स्तर है जहां हम उत्तर–पूर्व के सात राज्यों (सात बहिनों) पर सामूहिक चर्चा कर रहे हैं। वहीं एक–एक राज्य और फिर उसके एक–एक समुदाय पर पृथक से बात की जा सकती है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि संस्कृति की इकाई समुदाय है।

शताब्दियों से विभिन्न संस्कृतियाँ एक–दूसरे के सम्पर्क में आती रही हैं। इनमें परस्पर टकराहटें, घात–प्रतिघात और विनिमय होते रहे हैं। सांस्कृतिक अध्ययन बताते हैं कि संस्कृतियों के मध्य मोटे तौर पर तीन तरह की प्रक्रियाएं घटित होती हैं। एक है–पर संस्कृतिग्रहण (acculturization) जिसमें कोई समुदाय अपनी संस्कृति को छोड़कर किसी अन्य संस्कृति को अपना लेता है। स्वाभाविक ही है कि उसके द्वारा

अपनायी जाने वाली संस्कृति वर्चस्वशील ही होती है। पहले विजित लोग विजेताओं की संस्कृति को अपनाने के लिए कई बार बाध्य हो जाते थे। दूसरी तरह की प्रक्रिया अप–संस्कृतिकरण (deculturization) कहलाती है। इसमें दो संस्कृतियां कुछ इस अंदाज में सम्पर्क में आती हैं कि दोनों ही विरूपित हो जाती हैं। इसे एक स्तर पर कुछ शहरी कच्ची बस्तियों के संदर्भ से समझा जा सकता है। वहां लोग जहां से आते हैं वहां की अनेक मूल्यवान चीजों को भूल चुके होते हैं और शहर की संस्कृति को आधा–अधूरा ही अपना पाते हैं। कई बार बाह्य संस्कृति की टकराहट में कोई समुदाय अपनी संस्कृति का लचीलापन खो देता है। बल्कि अप्रसांगिक और विस्मृत हो गयी चीजों को भी अपनी अस्मिता के बतौर संकीर्णता से पुनर्जीवित कर लेता है। इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान (revivalism) को भी सामान्यतः इसी प्रक्रिया के तहत लिया जाता है क्योंकि वास्तव में इससे संस्कृति का सहज मार्ग तो अवरुद्ध हो ही जाता है–यह विरूपण ही है। यह दोनों ही प्रक्रियाएं अपनी प्रकृति में नकारात्मक हैं। तीसरी तरह की प्रक्रिया सकारात्मक है जिसे सांस्कृतिक नवाचार कहा जाता है। इसमें दो संस्कृतियां समान रूप से पारस्परिक अन्तर्क्रिया करती हैं और इसमें एक दूसरी को समृद्ध करती हैं। कहना न होगा कि यहां इनका रिश्ता बराबरी पर आधारित है। इसे एक छोटे से उदाहरण से समझा जा सकता है। दो भिन्न भाषा–भाषी समुदाय के व्यक्ति एक–दूसरे के सम्पर्क में आये और उन्होंने एक दूसरे की भाषाएं सीखी, नतीजतन दोनों व्यक्ति एक से अधिक भाषाएं सीख गये। वे एक–दूसरे से नृत्य या संगीत भी सीख सकते हैं।

इन प्रक्रियाओं के मद्देनजर हम देख सकते हैं कि लोकतंत्र की दृष्टि से कौन–सी सांस्कृतिक प्रक्रिया वरेण्य है और शिक्षा इसमें क्या भूमिका निभा सकती है।

संस्कृति बहुत प्रांजल और सकारात्मक प्रत्यय प्रतीत होता है लेकिन ऐसा है नहीं। संस्कृति के नाम पर संघर्ष और रक्तपात हुए हैं। हमने कहा कि धर्म भी संस्कृति का एक आदि–घटक है। निस्संदेह दुनिया में मनुष्यता के गर्व करने के कीर्ति–शिखर भी संस्कृति के उन्नत रूप हैं। यह भूमंडलीकरण का समय है और दुनिया से उस ध्रुवीय शीतयुद्ध का अंत हो चुका है। उदार आर्थिकी, उच्च तकनीक और व्यापक संचार भूमंडलीकरण की मुख्य परिघटनाएं (phenomenon) हैं। मौजूदा समय के युद्ध संचार माध्यमों से लड़े जा रहे हैं और संस्कृति इसकी मुख्य अन्तर्वस्तु है। यहां संस्कृति किसी उत्पाद विशेष के लिए बाजार निर्मित करने का माध्यम है तो अनेक बार संस्कृति के अपने उत्पादों को बाजार की तलाश है। सांस्कृतिक वर्चस्व और इसका प्रतिरोध विगत तीन दशकों का ज्वलंत विमर्श रहा है। इसे हम विस्तार में नहीं जाकर सिर्फ संदर्भ के रूप में रखना चाहते हैं।

अब हमें लगता है कि शिक्षा और संस्कृति के कई अन्तर्सम्बन्ध तो अब तक इन्हें समझने की प्रक्रिया में ही उद्घाटित हो चुके हैं। यह कि शिक्षा अन्ततः संस्कृति के परिक्षेत्र में ही काम करती है। यह भी संस्कृति का एक घटक है जो उसका संतरण करती है तो निर्माण भी। और यह कि लोकतंत्र के लिहाज से शिक्षा और संस्कृति के अलहदा अर्थ सामने आये हैं। इस लेख का भी आशय इन्हें समझाना ही है।

जैसाकि हमने पूर्व में उल्लेख किया, बच्चे के सीखने की प्रक्रिया उसके जन्म लेने के बाद से ही शुरू हो जाती है। यह क्रमशः परिवार, समुदाय और परिवेश में चलती रहती है। अभी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन स्कूली शिक्षा को समाजीकरण की प्रक्रिया मानते हैं। हमने शिक्षा को जिस तरह समझने की कोशिश की, उसी से स्पष्ट हो जाता है कि यह सिर्फ समाजीकरण नहीं है। समाज या और ठोस रूप में कहें तो समुदाय किन्ही खास मूल्य–मान्यताओं से संचालित होता है और इन्हीं से परिचालित एक तरह का समाजिक नियंत्रण वहां प्रभावी रहता है। एक समय तक

शिक्षा इसी सामाजिक नियंत्राण की छाया में रही है बल्कि दुनिया में कई जगह अभी भी इसकी छाया में ही हैं।

लोकतंत्रा एक शासन प्रणाली के रूप में समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के स्तंभों पर खड़ा है। ये सिद्धांत वास्तव में तो मूल्य ही हैं। हमारे यहां धर्मनिरपेक्षता बन्धुत्व को ही शक्ति देने के लिए अपनायी गयी रणनीति है। जैसाकि हमने कहा, एक प्रणाली में रूप में लोकतंत्र वैयक्तिक सहभागिता पर निर्भर है। लोकतंत्र की खूबी यही है कि अपने दार्शनिक प्रतिफल में यह एक शासन व्यवस्था मात्र का अतिक्रमण करता है और अंततः एक जीवन प्रणाली तक विस्तारित हो जाता है। इसकी एक और विशेषता आलोचना के लिए जगह है। आप किसी दूसरे से यूं ही सहमत होने के लिए बाध्य नहीं हैं। आप उससे जिरह कर सकते हैं। सहमति तक पहुंचने के लिए तार्किक संवाद का रास्ता है। तथापि असहमति के लिए भी जगह है। इस लिहाज से लोकतंत्र एक सर्वसमावेशी प्रणाली है, बेशक इसकी भी कुछ सीमाएं हैं।

हमारे यहां जाति, धर्म और लैंगिक भिन्नताएं प्रबल ही नहीं रहीं बल्कि इन्होंने गहरी सामाजिक विषमताओं को रचा है। देश में कई धर्म, अनेक सम्प्रदाय और बहुतेरी जातियाँ हैं। इन्होंने वर्चस्व और अधीनस्थता के सम्बन्धों में वंचना की दरारें निर्मित की हैं। स्त्रियां सर्वत्र पीछे हैं। इस अविरचना में संस्कृति की भी अपनी भूमिका रही है। सामाजिक वैषम्य को बनाये रखने के लिए सांस्कृतिक स्रोतों से वैधता हासिल की गयी है। यदि शिक्षा यहां लोकतांत्रिक मूल्यों को लेकर चलती है तो संस्कृति से उनका तनाव बनता है।

लोकतंत्र का एक सकारात्मक प्रतिफल सामाजिक गतिशीलता के रूप में सामने आता है। हमारे यहां वंचित समुदायों में सामाजिक अग्रगामिता का बोध जागृत हुआ है। लेकिन सामान्यतः यह अस्मिता बोध से जुड़कर आया है। एक हद तक तो यह ठीक लगता था। लेकिन यह समस्यामूलक तब हुआ जब इसने एक तरह के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का सहारा लिया। एक दौर में धार्मिक अस्मिताएं सृदृढ़ हुईं। चूंकि यह नकारात्मक सांस्कृतिक प्रक्रिया से उभरीं, इसलिए इनकी परिणति एक और नकार–साम्प्रदायिक विद्वेष–में हुई। कई बार लैंगिक ध्रुवीकरण में भी विद्वेष भावना परिलिक्षित होती है। इधर जाति समुदाय अस्मिता के आधार पर गोलबंद हो रहे हैं।

अस्मिता आधारित सक्रियता की सीमाएं यह हैं

कि इससे एक बंद समुदाय वजूद में आता है। यह अपने नेतृत्व पर जरूरत से ज्यादा निर्भर करता है क्योंकि वही इसका व्याख्याकार और प्रवक्ता होता है। यह अस्मिता प्रदत्त से ज्यादा गढ़ी जाने लगती है और इस प्रक्रिया में इसका अपना अतीत रचा जाता है जो जरूरी नहीं कि वास्तविक हो। वहां 'अन्य' को शत्रु अथवा प्रतिद्वन्द्वी की तरह देखा जाता है और आन्तरिक असहमति के प्रति भी अक्सर सहिष्णुता नहीं होती। निश्चय ही, हमारे यहां हाशिये के समुदायों की एक विराट श्रृंखला है जो सदियों से वंचना और मौन की संस्कृति में जीते रहे हैं। इनमें आदिवासी, दलित और अनेक अल्पसंख्यक समुदाय हैं। इनमें से सभी अस्मिता के आधार पर गोलबंद नहीं हो रहे बल्कि इनमें से बहुसंख्य तो इसमें सक्षम भी नहीं हैं। इन्हें देखने का हमारा नजरिया प्रायः औपनिवेशिक है अर्थात हम इन्हें ठीक वैसे देखते हैं जैसे ब्रिटिश लोग हमे देखते थे–पिछड़े और बर्बर। जबकि यह अमानवीय ही नहीं बल्कि असत्य दृष्टिकोण है। यदि हम सांस्कृतिक दृष्टि अपनायें तो यह असत्य पकड़ में आ सकता है। उदाहरण के लिए कोर्कू आदिवासी समुदाय को लें। इस समुदाय के पास अपनी संस्कृति है, मूल्य–मान्यताएं और अनुभव है जिन्हें लेवी स्ट्रास उतना ही मूल्यवान मानते थे जितना कि कथित उन्नत सभ्यता के मूल्य–मान्यताएं और ज्ञान संरचनाएं हैं। यहां तक कि कोर्कू भाषा भी है।

क्या हम ऐसे सांस्कृतिक समुदायों से अन्तर्क्रिया में नवाचार या नवोन्मेष वाली प्रक्रिया को अपनाते हैं, अन्यथा उनसे अपनी संस्कृति को छोड़कर हमारी संस्कृति को अपनाने का आग्रह लेकर जाते हैं? ऐसे में इनके सही मायने में मुख्यधारा में समावेशन की लोकतांत्रिक पद्धति कौन–सी है? और शिक्षा का इनके मामले में क्या संदर्भ बन रहा है? जरा इन प्रश्नों पर विचार कीजिए।

इधर ज्ञान को सांस्कृतिक पूंजी कहा जा रहा है। जैसे मुद्रा वित्तीय पूंजी है, वैसे ही ज्ञान सांस्कृतिक पूंजी है। अर्थशास्त्री बताते हैं कि मुद्रा के संकेन्द्रण या एकाधिकार से सामाजिक ही नहीं बल्कि कई तरह का वैषम्य उत्पन्न होता है। बल्कि मौजूदा दारिद्र्य इसी की उपज है। हमारे यहां सामंती सरंचना में ज्ञान पर सत्ता का नियंत्रण था। ब्राह्मणवाद ज्ञान के संकेद्रण का ही दूसरा नाम है जिस ने घृणित जाति वैषम्य को जन्म दिया।

आधुनिक शिक्षा का मुख्य कार्यभार ज्ञान को एकाधिकार से मुक्त करना है, उसका विकेन्द्रण ही नहीं बल्कि सार्वजनीनीकरण करना है। हम अक्सर शिक्षा सार्वजनीकरण की बात करते हैं जो अंततः ज्ञान के विकेन्द्रण के लिए है। इसी से हर किस्म की विषमता का अंत होगा और वंचित समुदाय सशक्त होकर लोकतंत्र की मुख्यधारा में समाविष्ट होंगे। इन अर्थों में शिक्षा एक सांस्कृतिक कार्यवाही (a cultural action) है और चूंकि यह कार्यवाही निरापद नहीं हो सकती, इसमें यथास्थितिवादी आड़े आते हैं तो एक प्रतिरोध की कार्यवाही (action of resistance) भी है। हमारे संदर्भ में शिक्षा और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्ध का यह एक गुणात्मक और विशिष्ट पहलू है।

◆◆◆

आगामी अंक

महात्मा गाँधी विशेषांक

राष्ट्रपिता के जीवन एवं कृतित्व पर केन्द्रित

'हिन्दी बुनियाद' का विशिष्ट अंक
(जून-जुलाई, 2019)

अपनी वैचारिक बुनियाद मजबूत करें
हिन्दी बुनियाद पढ़े!

हिन्दी कहानी में अहिंसा बोध

- डॉ. सत्यनारायण शर्मा
- सह आचार्य, हिन्दी राजकीय महाविद्यालय, दौसा

गांधी के समस्त समाज दर्शन का आधार उनकी व्यक्ति तथा समाज की धारणा है। व्यक्ति समाज की इकाई है। अतः समाज को समझने के लिये व्यक्ति को समझना आवश्यक है। गांधी के अनुसार व्यक्ति का महत्व सर्वाधिक है। वह अपने द्वारा निर्मित समाज और अन्य संस्थाओं की तुलना में सर्वश्रेष्ठ है। उसमें इतनी क्षमता है कि वह समस्त इतिहास की दिशा बदल सकता है। गांधी का दृढ़ विश्वास है कि "यदि एक व्यक्ति अध्यात्मिकता को प्राप्त कर लेता है तो सचमुच उसके साथ सम्पूर्ण विश्व आध्यात्मिकता को प्राप्त कर लेता है। यदि एक व्यक्ति भी आध्यात्मिकता से पतित हो जाता है तो समस्त विश्व उस हद तक पतित हो जाता है।"[1]

गांधी के अनुसार ''आदर्श या अहिंसक समाज जिसे राज्य मुक्त समाज कहते हैं। प्राप्त करना मानव सभ्यता और संस्कृति का आदर्श है परन्तु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती।''[2] वर्तमान राज्य व्यवस्था यहाँ तक कि प्रजातंत्र भी दोषपूर्ण एवं हिंसा पर आधारित है। अतः गांधी आदर्श समाज तक पहुँचने के लिये अहिंसक प्रजातंत्र की पद्धति को उपयुक्त मानते हैं।

गांधीजी ने अन्याय के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन के द्वारा संघर्ष करने का मार्ग दिखाया था उनकी दृष्टि में अहिंसा वह बन्धन है जो सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में बांधता है। अहिंसा प्रजातंत्र का दृश्य या अदृश्य आधार है।[3]

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी कहानी में अन्याय के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन चलाने वाले कथा नायकों ने सत्य अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करते हुए साध्य और साधन की पवित्रता बरकरार रखने की हर सम्भव कोशिश की है। राम सुरेश की कहानी 'मदारी' का पारसनाथ एवं मनोहर काजल की कहानी 'श्रद्धांजलि' का नायक सतीश दोनों ही छात्र नेता हैं। कॉलेज में व्याप्त भ्रष्टाचार, पक्षपात, धांधली के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं। श्रंद्धाजलि का नायक सतीश अहिंसापूर्ण आन्दोलन के बावजूद हिंसक तत्वों के षड्यन्त्र का शिकार होता है और पुलिस की गोली से मौत की नींद सो जाता

है। इसी प्रकार पारसनाथ भी शान्ति और अहिंसा का समर्थक है। वह हिंसा और आगजनी के समर्थक छात्रों को अपनी धारणा से अवगत कराता हुआ कहता है – ''यह तरीका ठीक नहीं रहेगा। इस कालेज में अभी तक शान्तिमय हड़तालें हुई हैं। उसी का पालन हमें भी करना है।'[4] वह अन्याय के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन का पक्षधर है। वह साध्य और साधन दोनों की पवित्रता बनाये रखना चाहता है। वस्तुतः यह तरीका गांधीवाद की ही देन है।

से. रा. यात्री की कहानी 'टापू पर अकेले', के कथा नायक महाशयजी गांधीवादी चेतना से सम्पन्न ऐसे व्यक्ति हैं जो किसानों के पक्षधर हैं एवं उन्हें न्याय दिलवाने के लिए संघर्ष करते हैं। उनका आन्दोलन अहिंसक है। वे अन्याय करने वालों के विरुद्ध न उत्तेजित होते हैं न ही उन पर क्रोध करते हैं। वे वास्तव में किसानों के सच्चे हितैषी हैं और किसानों की भी उन पर असीम आस्था है। महाशयजी का अनपढ़ देहातियों पर अत्यधिक प्रभाव था वे लुट जाना बर्दाश्त कर जाते थे मगर महाशय जी की बात कभी नहीं टालते थे। ''किसानों की औरतें गलियों में बिखरी अपनी अपनी दुनिया को देखकर छातियों पीटकर पछाड़ खाती थीं। बहनें, बच्चे धीरज खोकर बिलखते नजर आते थे, पर किसान कुर्क, जमीन या उसके मातहत सिपाहियों की चिरोरी नहीं करते थे।''[5] दरअसल महाशयजी उन जननायकों में अग्रगण्य है जो गांधीवादी चेतना से प्रभावित होकर लोक–कल्याण के लिए स्वयं तो कष्ट उठाते हैं, जेल जाते हैं लेकिन आन्दोलन को हर हालत में अहिंसक ही बनाये रखते हैं।

इसरायल की बहुचर्चित कहानी 'फर्क' के भूदानी नेता बेनीबाबू एक समर्पित नेता हैं जो

अन्याय के विरुद्ध संघर्ष का समर्थन करते हैं। इस आन्दोलन में शोषक वर्ग के प्रतिनिधि जमींदारों द्वारा की गई हिंसा के विरुद्ध वे हिंसक कार्यवाही का समर्थन नहीं करते अपितु छोटे–छोटे किसानों को रक्तपात से बचाना चाहते हैं। वे साध्य और साधन दोनों को ही पवित्र रखना चाहते हैं इसलिये वे हिंसा के विरुद्ध उपजी प्रतिहिंसा की भावना के वशीभूत विशू को समझाने की चेष्टा करते हैं।

''यह तो पथ हिंसा है और सत्ता के लिये दानवी युद्ध का हुँकार । तुम लोगों को पुनर्विचार करना चाहिए। असुरी शक्तियां देवत्व के सामने पराजित होती हैं। अतः कर्म का आचरण देव तुल्य ही होना चाहिए'' ।[6]

बेनीबाबू वस्तुतः संघर्ष में हिंसा की घटना से द्रवित हैं। प्रतिहिंसा की भावना उपजने के कारणों से भी अवगत हैं लेकिन वे जानते हैं कि हिंसा का उत्तर हिंसा नहीं हो सकता। जनहित के लिये कुरूप साधनों का प्रयोग उसके दूरगामी हित के लिये प्रतिकूल और भयंकर होता है। इस कारण भू–स्वामी सरकारी पदाधिकारियों के विरुद्ध संघर्ष की रूपरेखा को सत्य की अहिंसा की परिधि से बाहर जाने का परामर्श बेनीबाबू नहीं देते। वे स्पष्ट कहते हैं– ''ये तो वे आसुरी शक्तियां हैं जिनके विरुद्ध हमें आध्यात्मिक स्तर पर संघर्ष करना है। भौतिकता के संघर्ष में हमारे औजार आध्यात्मिक ही होंगे क्योंकि सत्य हमारे साथ है और सत्य प्राप्ति के संघर्ष यदि कुरूप हुए तो सत्य भी कुरूप हो जाएगा। इसलिये हमें सावधान रहकर सत्य के पथ पर बढ़ना है।'[7]

हिमांशु जोशी की कहानी 'जलते हुए डैने', के शिवदा एक ऐसे पात्र हैं जो अन्यायी व्यवस्था के विरुद्ध अहिंसक जेहाद आरम्भ करते हैं। किसान अकाल जैसी विपदा के हर वर्ष शिकार होते हैं। सरकारी व्यवस्था उन्हें अकाल के विरुद्ध लड़ने का, उनके अस्तित्व को बचाने का कोई प्रयत्न नहीं करती। किसी भी लोककल्याणकारी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह जनता के कष्टों के निवारण हेतु सक्रिय सहयोग प्रदान करे। सरकार सिंचाई की व्यवस्था करके किसानों को अकाल से लड़ने का अवसर तो नहीं देती अपितु उन पर कहर ढाने के लिये सरकारी कर्मचारी लगान वसूल करने पहुँच जाते हैं।

इस अन्याय का शिवदा जैसे ईमानदार, त्यागी और समाजसेवी व्यक्ति विरोध करते हैं। पुलिस

उन्हें गिरफ्तार करती है। व्यापक जन–समर्थन के बावजूद शिवदा अहिंसात्मक आन्दोलन चलाते हुए जेल चले जाते हैं और अंततः वहीं काल कवलित हो जाते हैं, लेकिन वे अहिंसात्मक आन्दोलन को कभी भी हिंसा में बदलने की इजाजत नहीं देते। वे सत्य से कभी अलग नहीं होते अपितु सजा भुगताने को तैयार हो जाते हैं।

इसी असीमित, सार्वभौमिक अहिंसा को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से उजागर करने की चेष्टा की है। अन्याय के विरुद्ध अपनी जान को खतरे में डालकर भी अहिंसात्मक संघर्ष करने वाले पात्रों का जुझारूपन उनकी सक्रियता और गांधीवादी अवधारणाओं के प्रति सच्ची निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों, पात्रों से सम्बद्ध कहानियां कम होकर भी सचमुच विशिष्ट लगती हैं।

सन्दर्भ :

1. यंग इण्डिया –4–12–1924
2. यंग इण्डिया– पृ. 162
3. सं. पट्टाभि सीतारमैय्या, गांधी और गांधीवाद, पृ–68
4. सं. रामसुदेश, मदारी, सारिका, फरवरी 1975, पृ– 70
5. सं. से. रा. यात्री, टापू पर अकेले, सारिका, 16–12–1978, पृ–28
6. सं. इसरायल, फर्क, वामा, 1971, पृ–19
7. सं. इसरायल, फर्क, वामा, 1971, पृ–20

◆◆◆

राजस्थान स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन योजना के अन्तर्गत
राजस्थान के स्वतंत्रता संग्राम को लेकर लिखा गया बीज साहित्य

स्वतंत्रता सेनानियों के मोनोग्राफ

प्रकाशक : **राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी**

मूल्य प्रत्येक मोनोग्राफ : **20.00 रु.**

पुस्तक समीक्षा-1

एक पालतू श्वान की परिचर्या का अद्भुत रोजनामचा

- डॉ. पूनम गुप्ता

जीव-जन्तुओं पर लिखी कथाएँ, उपन्यास, संस्मरण अथवा कविता आदि की पुस्तकें हिन्दी में बहुत ही कम देखने को मिलती हैं। जंगली जानवरों को जाने दीजिए क्योंकि उनका पर्यवेक्षण बहुत कठिन एवं श्रमसाध्य होता है किंतु घर के पालतू जानवरों को लेकर भी कितना-सा सृजनात्मक साहित्य हिन्दी में उपलब्ध होता है?

अंग्रेजी, जर्मन अथवा स्पेनिश जैसी यूरोपीय भाषाओं की तुलना में रुचि वैविध्य की दृष्टि से हिन्दी की स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती। एक लंबे अर्से तक तो हिन्दी के सृजन क्षेत्र में, एक औपचारिक विषय के रूप में विशेष हिन्दी पढ़कर आए और आगे चलकर खुद हिन्दी साहित्य के शिक्षक बन गए लोग ही छाए हुए थे। मंच उनके कब्जे में थे और उन्होंने एक ट्रेंड सैटर की भांति कथा-साहित्य एवं कविता को कुछेक जाने-पहचाने जीवन प्रसंगों एवं अनुभवों की एकरसता में बाँधे रखा। समाज के अलग-अलग तबकों से आए लोग अपने आसपास के परिवेश को भिन्न-भिन्न नजरिए से देखते हैं। रूसी कथा-लेखक अंतोन चेखव पेशे से चिकित्सक थे। प्रसिद्ध उपन्यासकार अल्बेयर कामू फ्रांस की राष्ट्रीय फुटबाल टीम में खिलाड़ी रहे थे।

यहाँ तक कि एक आपराधिक मुकदमे के क्रम में सश्रम कारावास की सजा भुगत चुके आइरिस कवि एवं नाट्य लेखक ऑस्कर वाइल्ड के दुर्दांत अनुभवों को भी हम अंग्रेजी साहित्य में उच्चतर स्वीकृति और लोकप्रियता पाते हुए देखते हैं।

विषय-चयन और विविधता का जहाँ तक सवाल है, हिन्दी से कहीं अधिक चौड़ा वर्णक्रम तो हमें मराठी व कन्नड़ जैसी भारतीय भाषाओं में ही देखने को मिल जाता है।

एक पालतू श्वान की मरणांतक बीमारी एवं उसकी परिचर्या को लेकर डॉ. आर.डी.सैनी की सद्यःप्रकाशित कृति 'प्रिय ओलिव' एक मौलिक एवं विशिष्ट रचना है। वर्षों से इनके घर-परिवार में रचा-बसा 'ओलिव' नामक श्वान पहले-पहल सामान्य रूप से तथा उपचार के दौरान गंभीर रूप से बीमार होता है। चलने-फिरने में असमर्थ, यहाँ तक कि खाने-पीने और हिलने-डुलने में भी नाकाम हो जाता है। उसके चारों पांवों को एक दवा के प्रतिक्रियास्वरुप फालिज मार जाता है। इस संकटकाल में असहाय एवं मूक ऑलिव की तीमारदारी और इसके प्रति लेखक के परिवार का भावनात्मक समर्पण ही इस कृति का मूल कथ्य है। अलग-अलग समय पर दी जाने वाली दवाइयाँ, पथ्य एवं परिचर्या का दैनंदिन लेखा-जोखा जिस विस्तार और प्रामाणिकता के साथ डायरी शैली में लिखा गया है, वह इस संस्मरण को विशिष्ट बनाता है। रोजमर्रा के यह परिचर्या डिटेल पाठक की संवेदना को गहरे तक छूते हैं कि किस तरह लेखक खुद, उनकी पत्नी श्रीमती इन्दिरा सैनी और पुत्र ऋत्विक अपने प्रिय श्वान की बेबस असाध्यता एवं उसकी आसन्न मृत्यु को भाँपकर

विचलित हो उठते हैं।

कुल छियानवें पृष्ठों में फैली यह कृति एक श्वान की असाहय बीमारी के माध्यम से हमारा ध्यान मूक जानवरों की पीड़ाओं की ओर खींचती है। यह उन जानवरों के प्रति एक सामान्य उपेक्षाभाव एवं सामाजिक संवेदनहीनता की ओर भी पाठकों का ध्यान दिलाती है। बीमार ओलिव जब एक सरकारी पशु चिकित्सालय में ले जाया जाता है तो वहाँ का एक दृश्य खुद लेखक के शब्दों में -

मैंने पूछा, ''भैयाजी, इस डॉग को स्ट्रेचर पर लिटाना है।''

कम्पाउंडर ने मुझे यूँ देखा जैसे पहले दर्जे का नासमझ और मूर्ख किस्म का इनसान हूँ। उसने डिजिटल वाटर की ट्यूब को चाकू से तोड़ा, सिरिंज से वाटर लेकर इंजेक्शन की एक छोटी बोतल में इन्सर्ट किया जिसमें सफेद पाउडर जैसा कुछ था। सिरिंज बाहर निकाल कर वह बोला, 'इसमें पूछना क्या है? कुत्ते को उठाओ और उठाकर स्टैंड पर पटक दो।''

''पटक दो.....?''

मुझे लगा कि कम्पाउंडर महोदय की नजर में मैं एक पलदार हूँ और ऑलिव एक जगह से दूसरी जगह पटकी जाने वाली अनाज की बोरी।''

रोजमर्रा की सुश्रुषा के दौरान लेखक का अपने श्वान के प्रति संवेगात्मक लगाव एवं दिन-दिन बिगड़ती इस श्वान की स्थिति को लेकर उनका प्रेक्षण मर्मस्पर्शी है -

''उस रात हम बराबर ओलिव के पास बने रहे। दरअसल उसकी हालत इतनी खराब थी कि वह किसी भी पल दम तोड़ सकता था। साँसें धोंकनी की तरह चलने लगती और पेट मशक की तरह फूल जाता था। कभी एकदम शांत हो जाता और लगता कि प्राण-पखेरू उड़ गए हैं। ऐसे में उसकी थूथन पर हाथ रखकर जाँच करता कि साँसें बंद तो नहीं हो गयीं।''

हम किसी पक्षी अथवा जानवर को यदि अपने घर में पालते हैं तो उसके दुःख-दर्दों के प्रति सजग और संवेदनशील होना भी हमारा नैतिक फर्ज है। ओलिव की सार-संभाल वस्तुतः प्रकृति एवं जीव-जन्तुओं के प्रति हमारे इस नैसर्गिक दायित्व का ही एक अंग है। किताब के पीछे छपी डॉ. आर.डी. सैनी की यह टिप्पणी इस दायित्व बोध को पाठकों के सामने रखती है।

''पैट्स दिल बहलाने के लिए नहीं होते। वे न तो खिलौने हैं और न स्टेटस सिम्बल। वे हाड़-मांस के प्राणी हैं। उनका प्यार निःस्वार्थ होता है। उनकी सबसे बड़ी खूबी है कि वे आपका विकल्प नहीं ढूँढ़ते ।

पैट्स पालने वालों को चाहिए कि अपने पैट की उस वक्त तन-मन-धन से सेवा करें जब वह बीमार हो, दुर्घटनाग्रस्त हो गया हो या उम्र पाकर असहाय हो गया हो।''

पक्षाघात के अंतिम चरण में, मरणासन्न ओलिव को दिखाने के लिए डॉ. अरविन्द माथुर की डॉग क्लीनिक में ले जाया जाता है। डॉ. माथुर का एक वक्तव्य भी यहाँ देना उचित होगा -

''ओलिव मेरे पास इलाज के लिए लाया गया तो उसका जिस्म लकड़ी की तरह अकड़ा हुआ था... वह आखिरी साँसें गिन रहा था...पहला सवाल था कि क्या वह सुबह तक जिंदा रह पायेगा? परन्तु 45 दिन बाद! वह अपने पाँवों से चलकर मेरे यहाँ आने लगा। मेरा इलाज उपनी जगह था किन्तु इससे भी आगे थी - सैनी फैमिली की केयर.... जिससे ओलिव को नई जिंदगी मिली थी।''

ओलिव के निरोग हो जाने के बाद, उमंगों से भरा स्वस्थ जीवन इस संस्मरण में कुछ यूँ सामने आता है -

''अब हाल यह है कि अजमेर से जयपुर जाने या जयपुर से अजमेर आने की भनक लगते ही ओलिव सफर की तैयारी में जुट जाता है। सबसे पहले अलगनी पर घूप खाती उस बैडशीट को दाँतों से खींचकर उतारता है और घसीटते हुए गाड़ी के पास लाता है जो उसकी सीट पर बिछायी जाती है। इसके बाद अपनी बैल्ट लाता है, फिर अपना खिलौना लाकर गाड़ी के पास बैठ जाता है, इंतजार करता है कि आप आएँ और गाड़ी में उसे भी बैठायें ताकि सफर पर निकला जा सकते।''

''प्रिय ओलिव '' पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण भी ''माई डियर डॉग ओलिव'' शीर्षक से 'बुक विलेज इंडिया' द्वारा प्रकाशित किया गया है।

◆◆◆

पुस्तक समीक्षा-2

अभावों के बीच खिलता 'जंगली फूल'

- रमेश चंद मीणा
- सह आचार्य, हिन्दी राजकीय महाविद्यालय, बूँदी

जोराम यालाम का उपन्यास 'जंगली फूल' आदिवासी समाज की कबीलाई सामाजिक संरचना, रीति-रिवाज और परंपराओं को उसी मूल लय, सुर और ताल में कलमबद्ध करने का अनूठा व मनोहरी प्रयास है । यह नयी जमीन तोड़ने का सच्चा प्रयास है, जो पाठकों को नया व अनूठा अनुभव कराता है। भारत विविधताओं से युक्त देश है जिसके हर छोर पर एक आदिम समुदाय अपनी अनूठी परंपराओं, स्वभाव, सूरत और प्रकृति के साथ रहता आया है। आदिम प्रकृति से आगे सभ्यता और संस्कृति की ओर कदम उठने जैसा ही है, झूमखेती से धान की खेती तक की यात्रा। प्रकृति से गहरे सरोकारों का ही दूसरा नाम रहा है - आदिवासी जीवन।

उपन्यास में निशी (तानी) वंश के टूटने, बिखरने और बनने की लोमहर्षक कहानी है। उपन्यास की विषयवस्तु तानी के आसपास बनती है, बिगड़कर फिर से बनती है। लेखक ने आदिवासी जीवन को एक बड़े रूपक में ढालने का कमाल किया है।

निशी समुदाय की लोक-कथाओं पर आधारित नायक तानी के पूर्वजों से लेकर उसके पूरे जीवन को समेटती यह कथा चार भाई और एक बहिन से भरेपूरे परिवार व कबीले से शुरू होती है। शुरू में ही एक हादसे से पाठक दो-चार होते हैं। तानी के पिता का क्षतविक्षत शरीर मिलने की खबर आती है और एक दिन मां भी आपसी रंजिश की शिकार हो जाती है। कबीलों में चलने वाले अघोषित आक्रमण का यह अनंत सिलसिला पाठक को झकझोर देता है। तानी की यात्रा के दौरान उसका गांव हमले से तबाह हो जाता है। आपसी रंजिश, ईर्ष्या, राग-द्वेष से तानी वंश के वारिस भी कौरव-पांडवों की गति को प्राप्त होते हैं। तानी अप्रतिम चमत्कारिक शक्ति से युक्त है, बुद्धि का धनी और भुजबली यौद्धा है। वह लगातार यात्रा करके अनुभव अर्जित करता है। वह पारंपरिक नहीं है। पूर्वजों की तरह एक ही परंपरा को मानते हुए लकीर पीटता हुआ नहीं रहता है। कबीले की समस्याओं के मूल में भूख को देखता है। वह हर समय दूसरों की सहायता के लिए तत्पर रहता है। मैकार मैरांग कबीले द्वारा सहायता मांगने पर पंद्रह दिन की यात्रा करके उनके पास पहुंचता है। सरदार अपनी बेटी आसीन से उसका ब्याह करता है। कुछ दिन कबीले के साथ रहने के बाद वह बड़े भाई दोदर, कुत्ते कीपुंग को साथ लेकर कबीले की मूल समस्या दूर करने के लिए लंबी यात्रा पर निकल जाता है। तीन दिन चलकर अपने चाचा मंगजंग के जोग गांव पहुँचता है जहां एक औरत को डायन कह कर मारा-पीटा जा रहा होता है। तानी उसका शारीरिक व मानसिक इलाज करता है, उसे इंसान होने का हक दिलाता है। न्यिकुंग को भी, जो

पिता की निगाह में दगाबाज था, अपनी यात्रा में शामिल कर वह चाचा के अत्याचारों से मुक्त करवाकर आगे बढ़ता है। एक खूबसूरत नयी वादी में भाई दोदर को नया कबीला बसाने के लिए यह कहते हुए छोड़ता है कि वहां एक दूसरे पर होने वाले हमलों में हम बर्बाद हो रहे हैं, यहां शांति से तानी वंश को बढ़ाया जा सकता है।

अब शेष बचे तीनों यात्री आगे बढ़ते हुए झील के किनारे पहुंचते हैं। एक पहाड़ी पेड़ पर हर्ब और झील के किनारे सिमांग से उनकी रोचक मुलाकात होती है। ऐसा स्थान जहां धान के खेत लहलहा रहे होते हैं। बला की खूबसूरत सिमांग से तानी की मुलाकात होती है। सिमांग के पति द्वारा तानी को कैद कर लिया जाता है। सारी बाधाओं को पार कर तानी सिमांग और धान के बीज के साथ अपने गांव आता है। तानी की दूसरी शादी शक्तिशाली कबीले में याई से होती है। लेकिन याई इस गैर दुनियादार आदमी को छोड़कर चली जाती है। याई और सिमांग के बिना तानी बुरी तरह टूट जाता है। तानी और सिमांग के निःस्वार्थ प्रेम का पुनः महामिलन हर्ब झील पर होता है जहां दोनों प्रेमी अपने प्रेम को विस्तार देते हैं और हमेशा-हमेशा के लिए एक होकर वहाँ से विदा लेते हैं। उधर बहन बेसब्री से भाई का इंतजार करती है। वह उसके वंश की चिंता से तब मुक्त होती है जब तानी की तीसरी शादी करवाती है। इस विवाह में पूर्व प्रेम को स्वीकारा जाता है। अंत में कई कबीले तानी कबीले से आकर मिलते हैं। क्योंकि अब वह एक साधनसम्पन्न, हमलों से मुक्त, धान की खेती करने वाला कबीला हो जाता है। यहाँ तानी की यात्रा को विराम मिल जाता है।

'जंगली फूल' अरुणाचल के तानी आदिवासी कबीले की ऐसी दास्तान है जो जोराम यालाम द्वारा भाव प्रवण शैली एवं सधी हुई भाषा में रची गई है। यह सदियों से चली आ रही आदिम परंपरा, खूनी जंग की दिल दहला देने वाली महागाथा है। इसमें रोमांस, हमले और प्रेम का अनूठा संगम है। पाठक शुरू से ही जोराम यालाम की भावनात्मक कथा की वादियों में ऐसा खोता है कि जब तक इसे पूरा नहीं कर लेता उसे चैन नहीं पड़ता। उपन्यास तानी कबीलों की वर्षों की मौखिक रंग-बिरंगी परंपराओं व साहसिक प्रेम की महागाथा है। रचना में बदलती प्रकृति के दर्शन सुलभ होते हैं - पहाड़, नदी, नाले और जंगलों में वनवासी किस तरह, प्रकृति के विकट उतार-चढ़ाव का सामना करते हैं। वहाँ वे हमलों व भूख का सामना करते हुए, प्रकृति से संघर्ष करते हुए कैसे सदियों से रहते आये हैं। यह जटिल संघर्ष और असंभव जीवन तानी वंश की कथा के जरिए पाठक के सामने साकार होता है। उपन्यास में प्रेमी-प्रेमिका, स्त्री-अस्मिता, भूख, जीवन की जिजीविषा, मानवीयता व इंसानियत के कई अविस्मरणीय बिंब हैं।

इस उपन्यास के स्त्रीवादी पाठ की भी पूरी संभावना है। तानी की तीन-तीन शादियाँ होती हैं, वह दो स्त्रियों के संपर्क में आता है। एक अन्य पुरुष की तीसरी पत्नी से प्रेम निभाता है। तानी और सिमांग का प्रेम आपस के बंधन में नहीं, मुक्ति में है। शादीसुदा स्त्री-पुरुष का निःस्वार्थ, मुक्त और असीम प्रेम। प्रेम किसी तरह का बंधन नहीं चाहता। जिसे पूरा समाज डायन कहकर दरबदर करता है, तानी उसे भी प्रेम से देखता है। तानी के निःस्वार्थ प्रेम की मिसाल दी जा सकती है। बिना प्रेम के पारंपरिक शादियां टिक नहीं पाती हैं। प्रेम बंधन में मुरझा जाता है तो मुक्ति में पनपता है।

भाषायी दृष्टि से पाठक को सबसे पहले लेखिका के नाम से जूझना पड़ता है। क्या मतलब है 'जोराम यालाम' का? जब तानी धान के बीज के लिए लंबी यात्रा पर होता है तब उसे हर्ब मिलता है। हर्ब उसे अपनी भाषा सिखाता है। 'तान्तुम' यानी 'हाँ', 'गोबरा' यानी 'चुप रहना', 'सिन्यी' यानी 'झील'। इस तरह हिन्दी भाषा-भाषी पाठक सुदूर अरुणाचली बोली से परिचित होते हैं।

यह उपन्यास आदिवासी समाज की खास खूबियों के साथ उनकी मूल समस्याओं से भी रूबरू करवाता है। गद्य की सधी हुई भाषा से लगता ही नहीं कि यह किसी युवा लेखिका की रचना है।

-'जंगली फूल', जोराम यालाम, 2019, अनुज्ञा प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, मूल्य : 375 रु.।

◆◆◆

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी : कुछ जानने योग्य जरूरी बातें

विद्यार्थियों/शिक्षकों/निजी खरीददारों को पुस्तक के मूल्य पर 25% छूट

भारत सरकार ने प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के बाद सन् 1968 में उच्च शिक्षा के माध्यम परिवर्तन पर बल दिया था। भारत सरकार की इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अन्तर्गत भारतीय भाषाओं में उच्च शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए विभिन्न विषयों की पुस्तकों का लेखन, प्रकाशन एवं विपणन किया जाना था। इस निमित्त हिन्दी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों एवं हिन्दीतर प्रदेशों में पाठ्य पुस्तक-निर्माण मण्डलों का गठन किया गया था। इस क्रम में सन् 1969 में राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना राज्य सरकार के द्वारा की गयी थी।

लगभग 46 वर्षों से राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी माध्यम में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के लिए विज्ञान, मानविकी, कृषि एवं तकनीकी विषयों की पाठ्य सामग्री उपलब्ध करवाने का कार्य निष्ठापूर्वक निष्पादित कर रही है। इस पाठ्य सामग्री में पाठ्य पुस्तकों के साथ सन्दर्भ ग्रन्थ भी हैं।

चूँकि अकादमी न लाभ-न हानि के सिद्धान्त पर पुस्तक प्रकाशन का कार्य करती है, अतः अकादमी की किताबें कम कीमत की होती है ताकि विद्यार्थी उन्हें खरीद सकें। इसके लिए विद्यार्थियों, शिक्षकों एवं निजी खरीददारों को पुस्तक के मूल्य पर 25% छूट दी जाती है। पुस्तकें विषय विशेषज्ञों के द्वारा लिखाई जाती हैं ताकि गुणवत्ता कायम रहे। जून, 2019 तक अकादमी ने विज्ञान, तकनीकी एवं मानविकी विषयों की 660 मौलिक पुस्तकें, 40 अनूदित पुस्तकें प्रकशित की हैं और अनेक विषयों की पुस्तकें लेखनाधीन हैं। पूर्व में प्रकाशित पुस्तकों का पुनर्मुद्रण करवाने से पहले आवश्यक संशोधन लेखकों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार अब तक 1099 पुस्तकों के संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

- निदेशक

चौपाल

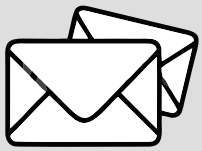

यह पाठकों की अपनी चौपाल है। यहाँ आपके विचार एवं प्रतिक्रियाएँ खुले रूप में आमंत्रित हैं। 'हिन्दी बुनियाद' का यह अंक - असमें दिए गए विशेष स्तंम्भ एवं आलेख आदि आपको कैसे लगे, इस सब पर आप अपनी प्रतिक्रिया हमें हाथ से लिखकर अकादमी के पते पर अथवा ई-मेल द्वारा भिजवा सकते हैं। हमारी कोशिश है कि हम अपने पाठकों से जीवंत संवाद बनाएँ और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में ताजा जानकारियों का उनके साथ साझा करें। हिन्दी भाषा हमारी जातीये पहचान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और हम चाहते हैं कि हिन्दी पाठकों को ज्ञान-विज्ञान की नई सामग्री के साथ-साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के अनंत आकाश से भी परिचित करवाएँ। इस अंक की सामग्री पर अपनी प्रतिक्रिया देने के साथ-साथ आप हमें यह भी लिखें कि भविष्य में इस पत्रिका के कलेवर को लेकर आपकी क्या और अपेक्षाएँ हैं।

- संपादक

खबरों में अकादमी